अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

फ़रवरी २०१९

ज्योतिर्मयी बाला

ज्योतिर्मयी बालिका

विषय-सूची

सम्पादकीय	३
चिन्तन	५
संस्मरण	१०

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४१
"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' से	४४
श्रीअरविन्द के योग की साधना	नवजात जी	४८
'योग के तत्त्व' : निष्कपटता	श्रीअरविन्द	५२
टीत्सी छोटी थी...	रूपान्तर—वन्दना	५५
बच्ची की प्रार्थना	मारगरेट कैनेडी	५८

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सम्पादकीय : श्रीमाँ के १४१वें जन्मदिवस के शुभ अवसर पर हमारे इस अंक का विषय है—माँ के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर मनन-चिन्तन करना। साथ ही हम उनके जीवन की कुछ घटनाओं की झलकियाँ भी दे रहे हैं जो इस पथ पर चलने में हमारी प्रेरणा-स्रोत बनें और उनकी कृपा के रक्षक हाथ थामे, हम आगे ही आगे बढ़ते चलें। अपने विशाल तथा 'वैश्व' व्यक्तित्व के बावजूद, श्रीमाँ की अनुभूतियाँ बहुमुखी हैं जो आध्यात्मिक जीवन के साथ-साथ भौतिक जीवन के भी सभी पक्षों को छूती हैं। उनकी अनन्तता के पहलुओं को पत्रिका के किसी अंक में बाँध लेना सम्भव नहीं, फिर भी, जितना भी थोड़ा-सा हम इस अंक में संकलित कर पाये हैं, वह उनकी विशालता की हलकी-सी झाँकी तो दे ही सकता है और हम ख़ुशी से झूम कर कह सकते हैं—

यदि ये वही हैं जिनकी श्रुति इस संसार में सुनी गयी है
तब तो किसी अद्‌भुत सुखद रूपान्तर पर क्या चकित होना?
परम आनन्द का प्रत्येक सहज चमत्कार
'इन्हीं' के रूपान्तरकारी अन्तर की कीमियागिरी है। ('सावित्री' से)

इस अंक में हमने साधकों के साथ हुए उनके वार्तालाप के कुछ हिस्सों को इधर-उधर से दिया है। स्थानाभाव के कारण हम सम्पूर्ण वार्तालाप देने में अक्षम हैं। साथ ही, यह भी निश्चित है कि श्रीमाँ के जीवन की कितनी ही ऐसी बातें जो कभी उजागर नहीं हुईं, सम्भवतः कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हों, क्योंकि जैसा कि कहा जाता है—'महान् आत्माओं' को उनके बाहरी जीवन से कभी कूता नहीं जा सकता।

इस तरह के संकलन की सभी सीमाओं को मानते हुए हम उनके प्रारम्भिक जीवन की कुछ झलकियों को उन्हीं के वार्तालापों से उद्धृत करने की धृष्टता कर रहे हैं।

पृथ्वी के आरम्भ से, जब कभी और जहाँ कहीं 'चेतना' की
एक किरण को अभिव्यक्त करने की सम्भावना थी,
मैं वहाँ उपस्थित थी।

—श्रीमाँ

चिन्तन

मैं और मेरा पन्थ

मैं किसी राष्ट्र की, किसी सभ्यता की, किसी समाज की, किसी जाति की नहीं हूँ, मैं भगवान् की हूँ।

मैं किसी स्वामी, किसी शासक, किसी क़ानून, किसी सामाजिक प्रथा का हुकुम नहीं मानती, सिर्फ़ भगवान् का हुकुम मानती हूँ।

मैं उन्हें संकल्प, जीवन, स्वत्व, सब कुछ अर्पण कर चुकी हूँ; अगर उनकी ऐसी इच्छा हो, तो मैं पूर्ण आनन्द के साथ, बूँद-बूँद करके, अपना सारा रक्त देने को तैयार हूँ; उनकी सेवा में कुछ भी बलिदान नहीं हो सकता, क्योंकि सब कुछ पूर्ण आनन्द है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ३८

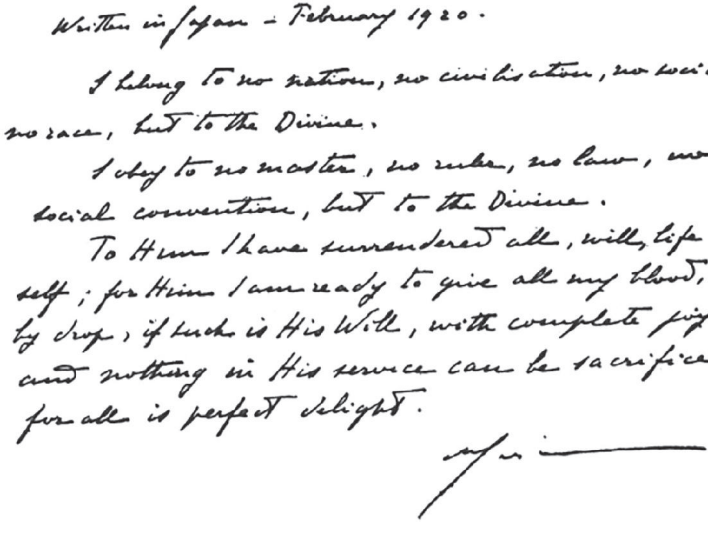
Written in Japan – February 1920.

I belong to no nation, no civilisation, no society, no race, but to the Divine.

I obey to no master, no ruler, no law, no social convention, but to the Divine.

To Him I have surrendered all, will, life and self; for Him I am ready to give all my blood, drop by drop, if such is His Will, with complete joy; and nothing in His service can be sacrifice, for all is perfect delight.

M.

मैं हमेशा ऊपर की ओर देखती हूँ। 'सौन्दर्य', 'शान्ति', 'प्रकाश' वहाँ मौजूद हैं, वे नीचे आने के लिए तैयार हैं। अतः, हमेशा अभीप्सा करो और उन्हें इस धरती पर अभिव्यक्त करने के लिए ऊपर देखो।

दुनिया की कुरूप चीज़ों की ओर नीचे न देखो। तुम जब कभी दुःखी होओ, तो हमेशा मेरे साथ ऊपर देखो।

—श्रीमाँ

मैं भौतिक जगत् में धरती पर क्या लाना चाहती हूँ :

१. पूर्ण 'चेतना'।

२. सर्वांगीण 'ज्ञान', सर्वज्ञता।

३. अजेय शक्ति, अप्रतिरोध्य, अपरिहार्य; सर्वशक्तिमत्ता।

४. स्वास्थ्य, पूरी तरह स्वस्थ, नियमित, अचलायमान और सदा नयी होने वाली ऊर्जा।

५. शाश्वत यौवन, निरन्तर विकास, बाधाहीन प्रगति।

६. पूर्ण सौन्दर्य, जटिल और समग्र सामञ्जस्य।

७. अखूट, अतुल समृद्धि, इस जगत् के समस्त धन-वैभव पर अधिकार।

८. रोगमुक्त करने और सुख देने की क्षमता।

९. सभी दुर्घटनाओं से रक्षा, सभी विरोधी आक्रमणों से अभेद्यता।

१०. सभी क्षेत्रों और सभी क्रिया-कलापों में अपने-आपको व्यक्त करने की निपुण क्षमता।

११. भाषाओं का उपहार, अपनी बात सभी लोगों को पूरी तरह समझा सकने की क्षमता।

१२. और 'तेरे' कार्य की सिद्धि के लिए जो कुछ भी ज़रूरी हो वह सब।

मैं चाहती हूँ

१. व्यक्तिगत रूप से 'परम प्रभु' की शाश्वत पूर्णाभिव्यक्ति होना।

२. कि अतिमानसिक विजय, अभिव्यक्ति और रूपान्तर तुरन्त हो जायें।

३. कि समस्त दुःख वर्तमान और भावी जगत् से हमेशा के लिए ग़ायब हो जायें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ४१-४२

क्या कोई मन्दिर में गन्दे पैरों से प्रवेश करता है?

उसी तरह, व्यक्ति आत्मा के मन्दिर में दूषित मन के साथ प्रवेश नहीं करता।

—श्रीमाँ

मुझे आशा और विश्वास है कि आपका काम मनुष्यों पर निर्भर नहीं है।

नहीं, वह मनुष्यों पर बिलकुल निर्भर नहीं है। जो किया जाना चाहिये वह सभी सम्भव बाधाओं के बावजूद किया जायेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ४७

जब 'परम प्रभु' ने आपसे जगत् का निर्माण करने के लिए कहा, तो आपने कैसे जाना कि क्या करना चाहिये?

उसके लिए मुझे कुछ भी नहीं सीखना पड़ा, क्योंकि 'परम प्रभु' के अपने अन्दर सब कुछ है : सम्पूर्ण जगत्, जगत् का ज्ञान और उसे बनाने की शक्ति। जब उन्होंने निश्चय किया कि एक जगत् बने, तो पहले उन्होंने जगत् के ज्ञान और उसे बनाने की शक्ति को पैदा किया, वह मैं हूँ, और तब उन्होंने मुझे उसे बनाने की आज्ञा दी।

*

आप हमारी तरह क्यों आयीं? आप सचमुच जैसी हैं उस तरह क्यों नहीं आयीं?

क्योंकि अगर मैं तुम्हारी तरह न आती, तो मैं कभी तुम्हारे निकट न हो पाती और मैं तुमसे यह न कह पाती : "मैं जो हूँ वह बनो।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ५३

आप अपने शब्दों में कुछ ऐसी चीज़ रखती हैं जो हमें उस 'सत्य' को देखने-योग्य बना देती है जिसे शब्द नहीं दे पाते। आपके शब्दों के साथ क्या चीज़ होती है?

चेतना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ५४

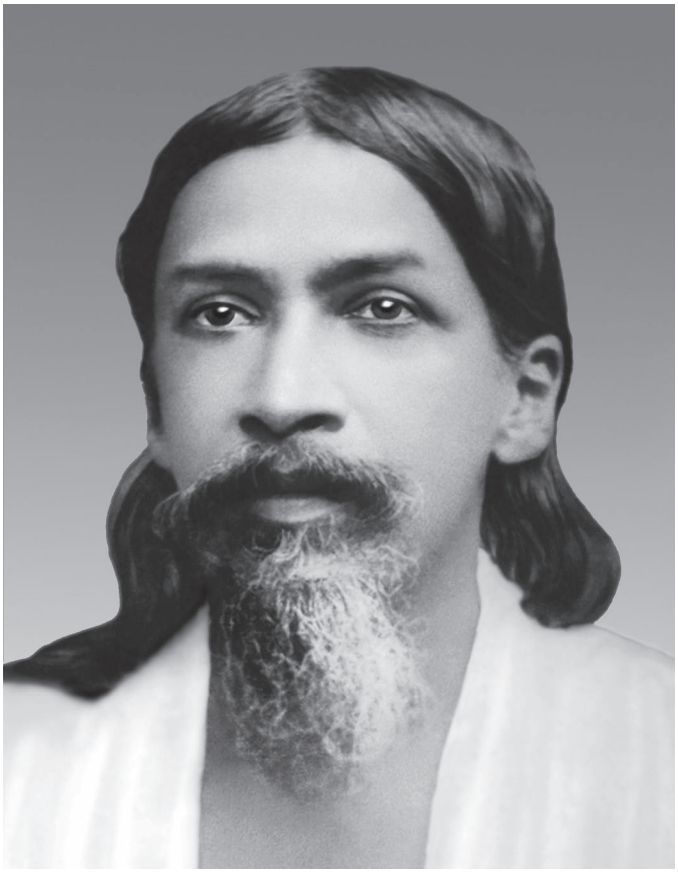

मैं नहीं चाहती कि मुझे पूजा जाये। मैं काम करने के लिए आयी हूँ, पूजे जाने के लिए नहीं; वे जी भर कर तुझे पूजें और मुझे चुपचाप व छिपा हुआ छोड़ दें ताकि मैं बिना किसी बाधा के अपना काम करती रहूँ–सभी परदों में शरीर सबसे अच्छा परदा है।

—श्रीमाँ

संस्मरण

(अधिकतम निम्नांकित पृष्ठों में श्रीमाँ के साथ एक शिष्य (सत्प्रेम) की बातचीत से उद्धृत अंश हैं, अतः वहाँ हम सन्दर्भ में केवल तारीख़ें दे रहे हैं—सं)

एक माँ की अभीप्सा और सबल इच्छा

यह विचित्र है... मैं 'विचित्र' इसलिए कह रही हूँ क्योंकि उन्हीं *(श्रीमाँ की भौतिक माँ)* के कारण मैंने इस शरीर में जन्म लिया, उन्होंने चुनाव किया। जब वे बहुत छोटी थीं, उनके अन्दर एक महान् अभीप्सा थी। वे मुझसे ठीक बीस साल बड़ी थीं; जब मेरा जन्म हुआ तब वे बीस साल की थीं और मैं उनकी तीसरी सन्तान थी... पहले एक बेटा हुआ जो दो महीनों के अन्दर ही चल बसा था, तब वे लोग तुर्किस्तान में थे... अगला था मेरा भाई जिसका जन्म मिस्र के ऐलीक्ज़ैंड्रिया में हुआ था, उसके बाद आयी मैं, मैं पैरिस में जन्मी—तब वे ठीक बीस वर्ष की थीं। उस समय (विशेषकर अपनी पहली सन्तान की मृत्यु के बाद) उनके अन्दर एक तरह की महान् अभीप्सा थी: उनके बच्चों को दुनिया के 'सर्वश्रेष्ठ' बच्चे होना चाहिये। वह कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। मुझे पता नहीं वह क्या था। और उनकी संकल्प-शक्ति ग़ज़ब की थी! मेरी माँ के अन्दर बहुत प्रबल इच्छा-शक्ति थी, जिसे कहा जा सकता है, लौह इच्छा-शक्ति, किसी भी बाहरी प्रभाव से एकदम अभेद्य। एक बार वे जो निश्चय कर लेती थीं, बस कर लेती थीं; कोई उनकी आँखों के आगे प्राण भी त्याग रहा हो, वे टस से मस न होतीं!! और उन्होंने निश्चय किया: "मेरे बच्चे दुनिया के सर्वश्रेष्ठ बच्चे होंगे।"

उनके अन्दर प्रगति करने की बड़ी ललक थी; वे अनुभव करती थीं कि संसार निरन्तर प्रगति कर रहा है और हमें उस सबसे बेहतर होना होगा जो पहले आ चुका है—उनकी दृष्टि हमेशा इसी की ओर लगी रहती थी।

यह था कुछ विचित्र, लेकिन यही था उनका दृष्टिकोण।

५ अगस्त १९६१

मेरा लालन-पालन एक तपस्वी की भाँति हुआ, बड़ा संयम रखा जाता था हम पर; मेरी माँ इस्पात की तरह थीं। बचपन से ही मेरे भाई और

मुझसे वे बार-बार बस यही कहा करती थीं कि धरती पर हम सब मौज-मस्ती करने नहीं आये : कि यह सतत नरक ही है, लेकिन तुम्हें इसके साथ चलना है, और तुम्हें इसमें सन्तोष तभी प्राप्त होगा जब तुम हमेशा अपना कर्त्तव्य-कर्म करते रहोगे! एक भव्य शिक्षा, वत्स!

भव्य। मैं अनन्त रूप से उनकी आभारी हूँ। मेरे शरीर ने कभी मौज-मस्ती... इत्यादि की माँग नहीं की। "यही जीवन है," और तुम्हें उसे बस उसी रूप में लेना है जैसा कि वह है—मेरे शरीर ने मुझे यही सीख दी।

२९ मई १९६२

सबल तथा सन्तुलित शारीरिक गठन

मेरे पिता अद्‌भुत रूप से स्वस्थ तथा सबल थे—बहुत ही सन्तुलित। वे बहुत लम्बे नहीं थे, लेकिन अच्छे डील-डौल वाले थे। उन्होंने अपनी पूरी पढ़ाई ऑस्ट्रिया में की थी (उस ज़माने में ऑस्ट्रिया में फ़्रेंच बहुत ही प्रचलित थी, लेकिन मेरे पिता जर्मन जानते थे, वे अंग्रेज़ी, इतालवी और तुर्की भाषा भी जानते थे...), वहाँ उन्होंने घुड़सवारी भी सीखी, उसमें भी वे प्रवीण थे : वे इतने मज़बूत थे कि किसी घोड़े के घुटनों पर ज़ोर देकर उसे नीचे बिठा देते थे। वे अपनी मुट्ठी के एक प्रहार से किसी भी चीज़ को तोड़ सकते थे, यहाँ तक कि उन दिनों प्रचलित चाँदी के पाँच फ़्रैंक के बड़े सिक्के के भी दो टुकड़े कर सकते थे—बस एक प्रहार और दो टुकड़े!...

क्या वे कहानियाँ भी सुना सकते थे! ओह हाँ! मेरे ख़याल से उन्होंने प्रत्येक उपलभ्य उपन्यास पढ़ रखा था, जितनी कहानियाँ उनके हाथ लगतीं वे उन्हें पढ़ते—अद्वितीय साहसिक कहानियाँ, वे सचमुच अभियान-प्रिय थे। जब हम बच्चे थे, वे सवेरे-सवेरे हमें अपने कमरे में बुला लेते और बिस्तर पर बैठे-बैठे ही हमें पढ़ी हुई कहानियाँ सुनाते—लेकिन वे सुनाते ऐसे थे मानों वे सारे क़िस्से उन्हीं के साथ घटे हों, मानों दस्युओं और जंगली पशुओं के साथ विलक्षण अभियानों के 'हीरो' वे ही थे... हर एक कहानी को वह अपना बना कर इतनी ख़ूबी से सुनाते कि हम उनमें रच-बस जाते थे!

लेकिन एक दिन, जब मेरे भाई ने उनका कहा न माना (मेरा भाई मातेओ उस समय क़रीब १०-११ साल का, या हो सकता है कि ९-१०

साल का ही रहा हो) तो जैसे ही मैं खाने के कमरे में घुसी मैंने देखा कि वे उसकी पिटाई कर रहे थे, मुझे पता नहीं किस बात पर, वैसे वह ज़ोरदार पिटाई नहीं थी, लेकिन फिर भी... मैं सीधा उन तक गयी, तन कर खड़ी हो गयी और मैंने उनसे कहा, "पापा, अगर आपने फिर कभी ऐसा किया तो मैं यह घर छोड़ कर चली जाऊँगी!" वत्स! मैंने यह बात इतनी गम्भीरता और बल के साथ कही कि वे फ़ौरन रुक गये और फिर कभी हमारे घर में वह चीज़ दोहरायी नहीं गयी।

५ अगस्त १९६१

अपना स्वामी बनना

... अगर तुम सचेतन रूप से व्यवस्थित हो, अपने भागवत केन्द्र के चारों ओर संगठित हो, उसी के द्वारा शासित तथा पथ-प्रदर्शित हो, तो तुम अपनी नियति के स्वामी बन जाते हो। यह प्रयास करने-लायक चीज़ है... बहरहाल, मुझे दास होने की बजाय स्वामी होना ज़्यादा पसन्द है। अपने-आपमें यह अनुभव करना ही अप्रिय है कि तुम किसी के हाथ की कठपुतली हो और चाहे तुम कोई काम करना चाहो या न चाहो, तुम्हें वे धागे इधर से उधर खींचते ही रहते हैं—यह अपने-आपमें एकदम असंगत है—लेकिन कोई तुम्हें खींचे और तुम उस काम को करने के लिए बाधित हो जाओ—यह तो क्रोध को भड़काने-जैसी बात है।

बहरहाल, मुझे पता नहीं, लेकिन यह सचमुच उत्तेजित करने-जैसी चीज़ है—जब मैं बच्ची थी तभी से मेरा यह विचार था कि कोई कैसे किसी के हाथ की कठपुतली बन सकता है! पाँच साल की उम्र से ही मुझे यह बात असह्य लगती थी और मैं हमेशा इससे बचने का उपाय ढूँढ़ा करती थी—हाँ, मैं लोगों को डाँटने का मौक़ा नहीं देती थी, क्योंकि मैं जानती थी कि कोई इसमें मेरी मदद नहीं कर सकता और न ही मेरे पास तुमलोगों के जैसा अवसर था कि कोई तुमसे कह सके : "यही वह कार्य है जो तुम्हें करना चाहिये!" यह बात कहने के लिए मेरे पास कोई नहीं था। यह मुझे अपने-आप ही खोजना पड़ा। और मैंने ढूँढ़ निकाला। मैंने यह काम पाँच वर्ष की अवस्था से शुरू किया था।

The Mother, Her Miraculous Touch: पृ. ७

चोट का इलाज

मैं उसी समान इलाज का सुझाव देती हूँ जिसे मैं बचपन में तब किया करती थी जब खेल के अपने युवा साथियों के साथ सहमत नहीं होती थी। उस समय मैं—तुमलोगों की ही तरह—बहुत संवेदनशील थी और जब कभी वे मेरे साथ दुर्व्यवहार करते तो मैं बहुत दुःखी हो जाती थी; ख़ास कर वे लोग जिनके प्रति मैं हमेशा सहानुभूतिपूर्ण और दयालु रही। तब मैं अपने-आपसे कहा करती: "खेद क्यों करूँ और दुःखी क्यों होऊँ मैं? अगर वे जो कह रहे हैं सही है, तो मैंने उनसे जो सबक सीखा उसके लिए मुझे ख़ुश होना चाहिये और अपने-आपको सुधार लेना चाहिये; अगर वे ग़लत हैं तो मुझे चिन्ता करने की क्या ज़रूरत—वे खेद करें और अपनी भूल के लिए दुःखी हों। दोनों ही मामलों में उत्तम और सबसे शानदार चीज़ जो मैं कर सकती हूँ वह है, सबल, शान्त और स्थिर बने रहना।"

यह सबक जो मैं अपने-आपको सिखा रही थी और आठ साल की उम्र से जिसका पालन करने की मैं कोशिश कर रही थी वह आज भी ऐसी परिस्थितियों में खरा उतरता है।

The Mother, Her Miraculous Touch: पृ. ११

जीवन की हास्यास्पदता

बचपन में कुछ समय तक मैं ग़ैरसरकारी विद्यालय में पढ़ी : मैं सरकारी विद्यालय में इसलिए नहीं गयी क्योंकि मेरी माँ मानती थीं कि किसी लड़की को सरकारी स्कूल में भेजना उसके योग्य नहीं है! इसलिए मैं 'प्राइवेट स्कूल' में थी—उस ज़माने का नामी-गिरामी विद्यालय: वहाँ के शिक्षक सचमुच समर्थ शिक्षक थे। मेरे भूगोल के अध्यापक, प्रसिद्ध व्यक्ति, भूगोल के बारे में उनकी लिखी किताबें बहुत प्रचलित थीं, वे बड़े सज्जन पुरुष थे। तो मैं उनके साथ भूगोल पढ़ा करती थी; मुझे नक़्शे बहुत पसन्द थे क्योंकि उन्हें बनाने में मुझे बड़ा मज़ा आता था। एक दिन अध्यापक ने मुझसे पूछा, "नगर और बड़े-बड़े शहर नदियों के किनारे क्यों पाये जाते हैं?" मैंने बाक़ी बच्चों की विस्मय से भरी आँखें देखीं, वे शायद अपने अन्दर बुदबुदा रहे हों, "बाल-बाल बचे, प्रश्न हमसे नहीं पूछा गया!" मैंने जवाब दिया, "लेकिन यह तो सीधी-सरल सी बात है! ऐसा इसलिए होता

है कि आवाजाही के लिए नदियाँ प्राकृतिक साधन हैं।" *(श्रीमाँ हँसती हैं)* वे भी ज़रा चौंक गये!... तो ऐसा था, मैं रटन-विद्या का प्रयोग कभी नहीं करती थी, मैं सभी विषयों में ख़ूब सोचती थी और पढ़ाई में बड़ा मज़ा लेती थी—मैं पूरी तरह से उसमें डूब जाती थी, इसलिए मेरे लिए पढ़ाई बहुत ही मज़ेदार, कह सकते हैं कि आमोद-प्रमोद की चीज़ थी!

साहित्य के हमारे अध्यापक... वे वृद्ध थे, उन सभी परम्परागत विचारों से लदे-फँदे जिनकी कल्पना की जा सकती है। ओह, कितने उबाऊ थे वे!... तो, उनकी कक्षा में सभी विद्यार्थी धरती की ओर नाक झुकाये बैठे रहते थे। वे लेख लिखने के लिए विषय दिया करते थे—क्या तुम्हें पता है कि *The Path of Later On and the Road of Tomorrow*?—थोड़ी देर बाद का रास्ता और आगामी कल की सड़क—(*श्रीमाँ का यह लेख 'श्रीमातृवाणी खण्ड २', पृ. १-५ पर है।*) यह मैंने तब लिखा था जब मैं बारह वर्ष की थी, उनके दिये प्रश्न पर, शायद उन्होंने कोई मुहावरा दिया था (अब मुझे वह याद नहीं है)। और वे आशा कर रहे थे कि मैं उस लेख में गम्भीर, समझदारी से भरी बातें लिखूँगी! मैंने अपनी कहानी, वह छोटी-सी कहानी लिख दी। बाद में वे हमेशा मुझे बड़े सन्देह और बड़ी आशंका की दृष्टि से देखने लगे! *(हँसी)* शायद वे यह आशा कर रहे थे कि मैं उनके व्यवहार पर कोई तमाशा खड़ा करूँगी... ओह! लेकिन मैं तो अच्छी लड़की थी न!

हमेशा से यही रहा है : जीवन की उस हास्यास्पदता को मैं हमेशा देखा करती हूँ जिसे लोग इतनी गम्भीरता से ले लेते हैं!

२६ जुलाई १९६७

भाषाएँ सीखना

तो पहले थी चेतना।

उसके बाद आया सीखने और विकास करने का काल, लेकिन वह साधारण मानसिक स्तर पर सीखना था—विद्यार्थी-काल। (श्रीमाँ स्पष्ट करती हैं : "वास्तव में मेरे सम्पूर्ण अध्ययन-काल में चेतना का विकास निरन्तर हो रहा था; मैं कभी भी रट्टा नहीं मारती थी, मुझे चीज़ों को समझना पड़ता था; और जैसे ही एक बार मैं कोई चीज़ समझ जाती, मैं उसे अच्छी तरह

जान लेती। दूसरे शब्दों में, चूँकि वह मेरा अध्ययन-काल अब तक बौद्धिक नहीं बना था इसलिए उसे चेतना के विकास का काल ही माना जा सकता है।) उत्सुकता ने मेरे अन्दर पढ़ने की जिज्ञासा जगायी। क्या मैंने तुम्हें कभी बतलाया कि यह कैसे हुआ? मैं क़रीब सात साल की थी, सात से ज़रा कम, मेरा भाई जो मुझसे १८ महीने बड़ा था, विद्यालय से बड़े-बड़े चित्र घर लाया करता था (जानते हो न, बच्चों के लिए बने बड़े चित्र जिनके नीचे शीर्षक लिखे होते हैं; आजकल भी ऐसे चित्र मिलते हैं) और उसने मुझे उनमें से एक दिया। "यहाँ क्या लिखा है?" मैंने पूछा। "पढ़ लो!" वह बोला। "पता नहीं कैसे पढ़ूँ," मैंने जवाब दिया। "तो सीखो!" "ठीक है," मैंने उससे कहा, "मुझे वर्णमाला दिखला दो।" वह मेरे लिए A.B.C. वाली एक किताब ले आया। दो दिनों के अन्दर मैं सीख गयी। और तीसरे दिन मैंने पढ़ना शुरू कर दिया। इस तरह मैंने पढ़ना सीखा। लोग-बाग कहा करते थे, "ओह—ओह, यह बच्ची पिछड़ी हुई है! सात साल की हो गयी और अब तक पढ़ना नहीं जानती—कितनी लज्जाजनक बात है!" मेरा सारा परिवार इस बात से परेशान रहा करता था। और देखो, एक हफ़्ते में मैंने वह सब सीख लिया जिसे छुटपन से सीखने में मुझे बरसों लग जाते—इसने मुझे चीज़ों के बारे में दोबारा सोचने पर मजबूर कर दिया!

२५ जुलाई १९६२

हर बार जब मैं ज़रा ऊपर उठना चाहता हूँ तो बाधा आती है।

तुम्हारी प्रगति के बारे में—ऐसा इसलिए होता है क्योंकि तुम मानसिक रूप से कोशिश कर रहे हो और मन हमेशा चेतना को सीमित करता है। केवल हृदय और चैत्य से उठती अभीप्सा ही प्रभावकारी हो सकती है। (और जब तुम कोशिश करना बन्द कर देते हो तो तुम मुझे अपने अन्दर काम करने देते हो और मैं उचित तरीक़ा जानती हूँ!)

—श्रीमाँ

सिर के ऊपर प्रदीप्त तथा प्रबल 'चेतना'

वस्तुतः, अगर मैं अपने योग को देखूँ... जब मैं पाँच साल की थी (अवश्य ही मैंने उसके पहले से ही शुरू कर दिया होगा, लेकिन वह स्मृति कुछ धुँधली, अस्पष्ट-सी है)... हाँ, तो सचेतन रूप से मैंने तब शुरू किया। निस्सन्देह, मुझे इसका ज़रा भी भान न था कि वह क्या था। लेकिन मेरी पहली अनुभूति यहाँ चेतना की उपस्थिति की हुई *(सिर के ऊपर)* जिसे मैंने पाँच वर्ष की उम्र में 'प्रकाश' तथा एक 'शक्ति' के रूप में अनुभव किया; और मैंने इसे यहाँ अनुभव किया *(समान मुद्रा)*। वह बहुत ही सुखद संवेदन था। मैं अपने कमरे में बिलकुल अकेली उस आराम-कुरसी पर बैठ जाया करती थी जिसे ख़ास मेरे ही लिए बनवाया गया था, और मैं... (मुझे पता नहीं था कि वह क्या था, समझ रहे हो न, वह कोई चीज़ नहीं थी, कुछ नहीं था—मानसिक रूप से शून्य था) और मुझे किसी बहुत प्रदीप्त वस्तु का **बड़ा ही सुखद**, बहुत प्रबल अनुभव होता था, और वह यहाँ था *(सिर के ऊपर)*। वह थी 'चेतना'। और मैं अनुभव करती थी कि "मुझे इसी को जीना है, मुझे यही बनना है।" हाँ, स्वाभाविक रूप से इतने सारे शब्द नहीं हुआ करते थे, लेकिन... *(माँ ऊपर की ओर अभीप्सा की मुद्रा करती हैं।)* और तब मैं उसे नीचे खींचा करती थी, क्योंकि वही... सचमुच, वही मेरे जीवन का उद्देश्य था।

२५ जुलाई १९६२

विद्यालय-काल

मैं बहुत मेधावी छात्रा थी, उसके पीछे वही समान कारण था: मैं सीखना चाहती थी। औरों की तरह रट कर चीज़ों को सीखने की मेरे अन्दर कोई दिलचस्पी नहीं थी—मैं उन्हें समझना चाहती थी। मेरी स्मरण-शक्ति अद्‌भुत थी, ध्वनियों और चित्रों की मेरी याददाश्त कमाल की थी! कोई कविता ऊँची आवाज़ में मैं बस एक बार रात को पढ़ लिया करती और अगली सुबह वह मुझे कण्ठस्थ हो जाया करती। और किसी किताब का अध्ययन करने या उसे पढ़ लेने के बाद अगर कोई किसी परिच्छेद का सन्दर्भ मुझसे पूछता तो मैं बता देती, "ओह, हाँ—यह फ़लाँ पृष्ठ पर है।" मुझे पृष्ठ का पता होता। मेरे मस्तिष्क में कुछ भी धुँधला नहीं होता, वह ताज़ा का ताज़ा बना रहता। यह मेरे विकास का सामान्य काल था।

फिर, बहुत ही छोटी उम्र में (क़रीब आठ या दस) अपनी पढ़ाई के साथ-साथ मैंने चित्रकारी भी शुरू कर दी। बारह वर्ष की उम्र में तो मैंने रेखाचित्र भी बनाने शुरू कर दिये थे। कला तथा सौन्दर्य के सभी पहलुओं पर कार्य करना आरम्भ कर दिया था, लेकिन, संगीत तथा चित्रकारी मुझे विशेष रूप से मन्त्रमुग्ध कर देते थे। उस काल में मैं एक बहुत ही तीव्र प्राणिक विकास के दौर से गुज़र रही थी, वैसे ही जैसे अपने बचपन के प्रारम्भिक वर्षों में मुझे सदैव एक आन्तरिक 'पथ-प्रदर्शक' की उपस्थिति का भान होता था; और मैं सब तरह के अध्ययन में लौलीन हो गयी: संवेदनों, अवलोकनों के अध्ययन में, तकनीक, तुलनात्मक अध्ययनों, यहाँ तक कि स्वाद लेने, सूँघने, सुनने इत्यादि से सम्बद्ध सभी संवेदनों और भावों के पूरे क्षेत्र को गहराई से नापने लगी। और यह चीज़ जीवन के सभी पहलुओं में फैल गयी, जितने अनुभव जीवन जुटा सकता था, सभी —दुःख-दर्द, आनन्द, मुसीबतें, कष्ट, सभी मेरे अध्ययन के दायरे में आ गये! और साथ ही, मूल्यांकन करने, निश्चय करने, वर्गीकरण करने, व्यवस्थित करने और क्रमबद्ध करने की वह आन्तरिक उपस्थिति सदैव ही मेरे साथ बनी रही। *२५ जुलाई १९६२*

कई विभिन्न चीज़ें

... मैंने कई बहुत-सी विभिन्न चीज़ें कीं! और मुझसे हमेशा कहा

जाता था कि मैं कभी भी किसी चीज़ में बढ़िया नहीं होऊँगी। मैंने पढ़ाई की, मैंने चित्रकारी की, मैंने संगीत सीखा; इसके अतिरिक्त, मैं कई दूसरी चीज़ों में भी व्यस्त रहती थी। और मुझसे कहा गया कि मेरा संगीत ऊँचे दरजे का नहीं होगा, मेरी चित्रकारी किसी लायक नहीं होगी और मेरी पढ़ाई भी बिलकुल अधूरी ही रहेगी। शायद यह एकदम सच हो, लेकिन अब भी मैं यह मानती हूँ कि इसके अपने लाभ हैं... इससे मनुष्य का दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है, उसका मन लोचदार और समझदार बन जाता है।

*

मुझे याद है, जब मैं आठ साल की थी मैंने टेनिस सीखना शुरू कर दिया था, मुझे उसकी धुन लग गयी थी; लेकिन मैं अपनी उम्र के छोटे साथियों के साथ कभी भी खेलना नहीं चाहती थी क्योंकि तब मैं कुछ नया नहीं सीखती थी (सामान्यतः मैं उन्हें हरा देती थी), मैं हमेशा उत्तम खिलाड़ियों के पास जाती थी। कभी-कभी वे मुझे देख कर चौंक जाते थे, लेकिन अन्त में मेरे साथ खेलना स्वीकार कर लेते थे—मैं कभी जीती नहीं, लेकिन मैंने बहुत कुछ सीखा।

*

मैंने पटेबाज़ी (Fencing) भी बड़ी लगन के साथ सीखी क्योंकि इससे कौशल, अपनी गतियों पर संयम और उग्रता पर अनुशासन प्राप्त होता है... मैंने निशानेबाज़ी भी सीखी, मैं पिस्तौल से निशाना लगाती थी, मैं राइफ़ल से भी निशाना लगाया करती थी क्योंकि इससे व्यक्ति स्थिरता, कुशलता और निश्चिति प्राप्त कर लेता है—लक्ष्य की निश्चिति, जो जीवन में उत्तम वस्तु है, और इससे ख़तरों में भी वह शान्त-स्थिर बना रह सकता है।

The Mother, Her Miraculous Touch: पृ. १६, १९

पूर्णता की ओर

लेकिन एक चीज़ थी (अब मैं समझ रही हूँ, उस समय मुझे पता नहीं था कि ऐसा क्यों होता था): मैं जो कुछ करना चाहती थी, कर सकती थी, लेकिन कुछ समय बाद, उस कार्य का अनुभव पा लेने के बाद, मुझे

वह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं लगता था कि मैं अपना सारा जीवन उसी को समर्पित कर दूँ। तो मैं कुछ और हाथ में ले लेती: चित्रकारी, संगीत, विज्ञान, साहित्य... सब कुछ, और व्यावहारिक चीज़ें भी संग-संग चलतीं। मैं हमेशा बड़ी ही आसानी से चीज़ें कर लेती। लेकिन कुछ समय बाद उस काम को छोड़ देती। इसलिए मेरी माँ (वे बहुत कड़ी थीं) कहा करतीं, "मेरी बेटी में किसी भी काम का अन्त देखने की क्षमता नहीं है।" और यह चीज़ ऐसी ही बनी रही: किसी भी काम का अन्त देखने की अक्षमता —हमेशा किसी काम को हाथ में लेकर उसे छोड़ देना, फिर कुछ समय बाद उसे भी छोड़ कर किसी तीसरी चीज़ की ओर बढ़ जाना।... "अस्थिर। अस्थिर—यह अपने जीवन में कभी कुछ हासिल नहीं कर पायेगी!" वे कहतीं। (*माँ हँसती हैं*)

और सचमुच यह ऐसा था मानों कोई बच्चा हमेशा अधिक, हमेशा बेहतर, हमेशा अधिक, हमेशा बेहतर की ज़रूरत महसूस करे... जिसका कोई अन्त न हो—आगे बढ़ने की भावना, पूर्णता को छूने के लिए हमेशा आगे बढ़ने का उत्साह। और मैं सोचा करती थी कि मनुष्य जिस किसी चीज़ के बारे में सोच सकें, वह पूर्णता उससे कहीं परे है—कुछ ऐसा है... कोई ऐसी "चीज़" है... जिसकी मैं परिभाषा नहीं दे सकती, लेकिन जिसे मैं हर चीज़ में पाने की कोशिश में जुटी हुई थी।

२६ जुलाई १९६७

महान् नमनीयता और विस्तृत कार्यक्षेत्र

एक बार, बहुत, बहुत पहले, जब श्रीअरविन्द अपने बारे में मुझसे कह रहे थे, यानी, अपने बचपन, अपने विकास के बारे में बता रहे थे तो मैंने उनके सामने यह प्रश्न रखा, "मैं, एक व्यक्तिगत सत्ता के रूप में, इतनी सामान्य क्यों हूँ? मैं कोई भी कार्य कर सकती हूँ; जिस किसी काम को मैंने हाथ में लिया सम्पन्न किया, लेकिन कभी श्रेष्ठ रूप में नहीं: हमेशा इस तरह (*औसत दरजे की मुद्रा*)।" तब उन्होंने मुझे उत्तर दिया: (उस समय मैंने वह अनुग्रह और सहानुभूति के रूप में लिया था), "ऐसा इसलिए है कि यह चीज़ महान् नमनीयता प्रदान करती है—महान् नमनीयता और विस्तृत कार्यक्षेत्र; क्योंकि जो लोग अपने क्षेत्र में पूर्णता पा लेते हैं

वे उसमें एककेन्द्रित और विशिष्ट बन जाते हैं।" जैसा कि मैंने कहा, उस समय मैंने उनकी बात बच्चे को सहलाने के भाव में ली थी। लेकिन अब मैं समझ रही हूँ कि सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि हमें किसी भी स्थायित्व से बँधे नहीं रहना चाहिये, यानी, कोई भी चीज़ पक्की, निश्चित नहीं होनी चाहिये—जैसे, उपलब्धि में पूर्णता का भाव—नहीं, वह भी नहीं। उसका अर्थ होगा, अग्रिम गति में एकदम से विराम-चिह्न लगा देना। अक्षमता का भाव (यानी, जो मैंने औसत होने, किसी भी तरह विशिष्ट न होने की बात कही थी) तुम्हें प्रत्याशा की स्थिति में रखता है, *(ऊपर उठने की अभीप्सा का भाव)* ऐसी वस्तु की प्रत्याशा जो पहले से अधिक अच्छी होगी। इसलिए, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ है, नमनीय होना—लचीला होना। नमनीय और विस्तृत: किसी भी चीज़ को बेकार, बुरी या निम्न कह कर अस्वीकार मत करो—किसी को भी नहीं; किसी भी चीज़ को सचमुच उच्च और सुन्दर कह कर पराकाष्ठा पर मत चढ़ा दो—किसी को भी नहीं। हमेशा खुले रहो, हमेशा उद्घाटित।

इस तरह की नमनीयता, ग्रहणशीलता और समर्पण को बनाये रखना ही आदर्श है। यानी, उस प्रभाव के प्रति स्वीकृति इतनी पूर्ण हो कि जीवन में जो कुछ अनायास, सहज-स्वाभाविक रूप से आये, यन्त्र उसे अभिव्यक्त करने के लिए तुरन्त स्वयं को ढाल ले। निस्सन्देह हर चीज़ के लिए—चाहे वह कला हो, संगीत हो, लेखन हो... कुछ भी हो।

१८ फ़रवरी १९६७

सामाजिक जीवन का जाल

बहुत पहले ही मैं यह भली-भाँति समझ गयी थी कि इन सामाजिक जालों के परे कोई चीज़ है जिसकी ओर हम बढ़ रहे हैं, वह कोई अलग ही चीज़ है!... लोग इसे नहीं जानते, वे जीवन के उसी ताने-बाने में उलझे रहते हैं। तब मुझे निरर्थकता, मूर्खता, व्यर्थता का ऐसा भाव होता... किसी ऐसी चीज़ का अनुभव जो तीव्रता, जीवन, वास्तविकता, उत्साह और आत्मा से विहीन होती—ओह! इससे मेरे अन्दर जुगुप्सा पैदा हो जाती।

जब यह सब मेरे अन्दर उठ रहा था, मैं सोचा करती, 'यह कैसे सम्भव है?... लोग सचेतन क्यों नहीं हो सकते...' क्योंकि मेरे जीवन के उन

वर्षों में (अब मैं चीज़ों से पृथक् रहती हूँ, मैं सब कुछ करती हूँ, लेकिन पूरी तरह से उनसे बाहर होती हूँ।...) मैं तब तक सचेतन बन चुकी थी, लेकिन बहरहाल, तब भी मैं जो करती थी उसमें डूब जाती थी; मैं भी एक हद तक उस सामाजिक जाल की पकड़ में आ जाती। समझ रहे हो, हाँ, तो मेरा जाल इतना कसा हुआ नहीं था, वह ढीला था, उस जाल से निकल कर मैं बाहर की खुली हवा में बीच-बीच में साँस ले लेती थी। लेकिन उस जाल में फँसे रहना कितना दुःखदायी होता था... मैं तो सचेतन होकर कई बार उसमें से निकल जाती, लेकिन अभी उसी दिन जब मैं सोच रही थी कि मैं पूरी तरह से उस जाल में से निकल जाऊँ, और तभी मैंने ऊपर, इस सबके ऊपर... मधुर प्रकाश की ऐसी भव्यता देखी—कितनी कोमल थी वह, सच्चे प्रेम, सच्ची करुणा से भरपूर—कितनी ऊष्मा, कितने सुखद प्रकाश से लबालब... धीरता की उस शाश्वतता में मधुरिमा, प्रकाश तथा सौन्दर्य की शाश्वतता का जो आराम, जो सान्त्वना थी, जिसमें न अतीत था न ही सांसारिक चीज़ों की निरर्थकता या मूर्खता—कितना अद्‌भुत था वह सब! सचमुच मुझे इन सभी चीज़ों का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ और मैंने अपने-आपसे कहा, 'इसी ने तुम्हें ज़िन्दा रखा, 'इसके' बिना कुछ भी सम्भव नहीं होता।' ओह, अन्यथा सम्भव नहीं होता—इसके बिना तो मैं तीन दिन भी जीवित नहीं रहती! यह भव्यता यहाँ है, हमेशा यहाँ विद्यमान है, धरती पर प्रत्यक्ष रूप लेने के लिए प्रतीक्षा कर रही है—अगर हम इसे अवतरित होने दें!

और अब भी मैं संसार में हूँ; अब मैं यहाँ ऊपर हूँ *(श्रीमाँ सिर के ऊपर होने की मुद्रा करती हैं)*, मैं यहाँ हूँ, इसलिए अब सब भिन्न है।

१५ नवम्बर १९६०

दुःखी मत होओ, अपने को सुधारो

वैसे तो मैं किसी सामान्य बच्चे की तरह ही थी, बस फ़र्क यही था कि मुझे सम्हालना मुश्किल था, इस अर्थ में मुश्किल कि मुझे न खाने-पीने में रस था, न सामान्य खेल-कूद में मेरी रुचि थी, नाश्ते-पानी के लिए न मुझे अपनी दोस्तों के घर जाना रुचता था क्योंकि केक इत्यादि में मेरी कोई दिलचस्पी ही नहीं थी। और मुझे दण्ड देना भी असम्भव था क्योंकि मुझे

किसी चीज़ से कोई फ़र्क ही नहीं पड़ता था : मिठाई से वञ्चित करना तो मेरे लिए राहत की साँस होता! और पढ़ना सीखने से तो मैंने साफ़ मना कर दिया था। यहाँ तक कि नहाना भी मेरे लिए भारी पड़ता था, क्योंकि मेरी देखभाल करने के लिए जिन अंग्रेज़ महिला को रखा गया था वे मुझे ठण्डे पानी से नहलाती थीं—मेरा भाई चूँ-चपड़ तक नहीं करता था, लेकिन मैं घर सिर पर उठा लेती! बाद में पता लगा कि ठण्डा पानी मेरे लिए हानिकर था (चिकित्सक ने ऐसा कहा), लेकिन यह बहुत बाद की बात है। तो तुम समझ रहे हो न!

लेकिन जब कभी अपने रिश्तेदारों या मित्रों के साथ मेरी अनबन हो जाती, मैं उस अप्रियता और दुर्भावना को अनुभव करती—उन सभी अशुभ चीज़ों को जो इस सबके साथ आती हैं (मैं काफ़ी संवेदनशील थी, क्योंकि मैं हमेशा अपने अन्दर सौन्दर्य तथा सामञ्जस्य को पोसा करती थी, और जीवन की सभी आम परिस्थितियाँ उसका विरोध करती दीखती थीं)... तो जब कभी मैं उदासी का अनुभव करती, मैं इस बारे में बहुत सावधान रहती कि अपने माता-पिता से कभी इस बारे में कुछ नहीं कहूँ, क्योंकि मेरे पिता इस पर कान नहीं देते थे और माँ ऐसी बातों पर मुझे डाँट दिया करती थीं, क्योंकि उनके लिए यह सब मेरी कपोल कल्पनाएँ थीं जिन्हें वे कभी बढ़ावा नहीं देना चाहती थीं। तो मैं अपने कमरे में चली जाती, अपनी छोटी-सी आरामकुर्सी पर बैठ जाती, और फिर मैं एकाग्र होकर समझने की कोशिश करती... अपने ही तरीक़े से। और मुझे याद है कि शायद बहुत सारी असफल कोशिशों के बाद आख़ीर में मैं इस नतीजे पर पहुँची कि "देखो, तुम इसलिए उदासी का अनुभव कर रही हो क्योंकि फ़लाने ने... ढिमाके ने... तुम्हें बहुत चुभने वाली बात कही—लेकिन इससे तुम्हें क्यों रोना आ गया? तुम इतनी उदास क्यों हो? बुरा तो उसे लगना चाहिये, वह बुरा बना, तो रोना तो उसे चाहिये। तुमने तो उसके साथ कोई बुरा व्यवहार नहीं किया... क्या तुमने उसे अपशब्द कहे? क्या तुमने इसके या उसके साथ झगड़ा किया? नहीं, तुमने कुछ नहीं किया, किया क्या; हाँ, तो तुम्हें दुःखी होने की कोई ज़रूरत नहीं। अगर तुमने कुछ बुरा किया होता तो तुम्हारा दुःखी होना उचित हो सकता था, लेकिन... " तो इससे बात ख़तम हो जाती। मैं कभी नहीं रोती। बस थोड़ा-सा अन्दर मुड़ने या किसी

"ऐसी चीज़" पर कान देने की ज़रूरत होती जो कहती, "तुमने कोई ग़लत काम नहीं किया", तो कोई दुःख तुम पर छायेगा ही नहीं।

लेकिन इस "किसी चीज़ का" दूसरा पहलू भी था: वह मुझ पर अधिकाधिक निगरानी रख रही थी, और अगर कहीं मेरे मुँह से कोई शब्द निकल जाता या कोई क्रिया हो जाती, दुर्भावना का हलका-सा भी विचार सिर में फुदक उठता, भाई को छेड़ती या ऐसा कुछ भी करती, छोटी-से-छोटी चीज़ भी, वह 'कोई चीज़' *(माताजी गम्भीर हो जाती हैं)* कहती, "सावधान, अपने ऊपर नज़र रखो!" पहले मैं इस पर पिनकती थी, लेकिन धीरे-धीरे इस चीज़ ने मुझे यह पाठ पढ़ा दिया कि "दुःखी मत होओ, चीज़ों को ठीक करो, सुधारो!" और अगर सुधार हो सकता—वैसे तो हमेशा ही सब कुछ सुधारा जा सकता है—मैं सुधार लेती। यह सब पाँच से सात साल के बच्चे की बुद्धि के माप से होता।

२५ जुलाई १९६२

वह ध्वनि जो विश्वव्यापी है

मेरे लिए एक ऐसी ध्वनि है जिसमें विलक्षण शक्ति है—विलक्षण तथा वैश्व (यह महत्त्वपूर्ण बात है): यह उस भाषा पर निर्भर नहीं करती जो तुम बोलते हो, यह उस शिक्षा पर निर्भर नहीं करती जो तुम्हें दी गयी है, यह उस वातावरण पर निर्भर नहीं करती जिसमें तुम साँस लेते हो। और वह ध्वनि, बचपन में—कुछ भी जाने बिना—जब मैं उसका उच्चारण करती थी (तुम जानते ही हो, फ्रेंच में हम जिस तरह 'ओ' कहते हैं, हाँ, तो मैं कुछ भी जाने बिना, "ओम्" कहा करती थी!)। और सचमुच, उस ध्वनि के साथ मैंने सब तरह के परीक्षण किये—यह अद्‌भुत है, अद्‌भुत से भी अधिक अकल्पनीय है।

तो इसके चारों ओर तुम किसी ऐसी वस्तु का निर्माण करो जो तुम्हारी अपनी अभीप्सा के साथ मेल खाती हो—अमुक ध्वनियाँ या शब्द जो तुम्हारे अन्दर की अन्तरात्मा का आवाहन कर सकें—तब यह बहुत सुखद हो जाता है।

'ओम्' शब्द के अन्दर की शक्ति की महत्ता तो पुराकाल से चली आ रही है, लेकिन फिर भी है यह बहुत सीमित ही... इसीलिए मैं कह रही

हूँ कि इसमें सचमुच असीम शक्ति है और प्रत्येक अपने परीक्षण करके, अपनी प्रार्थना को जोड़ कर इसे अपना वह मन्त्र बना सकता है जो उसके लिए अन्तरात्मा के मिलन के विस्तृत द्वार खोल सकता है।...

२३ सितम्बर १९६४

हाँ, मैं फ़्रांस में थी, यह क़रीब साठ साल पहले की बात है।

एक फ़्रेंच व्यक्ति था जो हिमालय से वापस आया था। वह वहाँ कुछ समय तक रहा था। यहाँ आकर उसने एक भाषण दिया जिसमें मैं गयी थी। उसमें उसने बताया कि जब वह गहन हिमालय में था, एक संन्यासी उसके पास आया जिसे वह जानता भी नहीं था और उसने उससे बस यही कहा "ओ....म्" और इसके बाद वह व्यक्ति पूरी तरह से बदल गया।

और जब उसने 'ओ....म्' कहा, मैंने अपने अन्दर उसी परिवर्तन का अनुभव किया... मानों मेरे अन्दर प्रभु का आगमन हो रहा हो। ओ....म्।

तो ऐसी बात है। बढ़िया, बहुत बढ़िया। यह रहस्य अपने पास रखो।

बस इसी मन्त्र का उच्चारण करो: ओ....म्। ओ....म्। बस यही। ओ....म्। इसे चरितार्थ होना ही चाहिये। जब कभी कुछ भी गड़बड़ हो जाये, **ओम्** को दोहराओ, सब कुछ ठीक हो जायेगा।

Blessings of the Grace, पृ.७३

वातावरण के प्रति संवेदनशीलता

बहुत बचपन से ही मैं हवा के संघटन या रचना के प्रति बहुत ज़्यादा संवेदनशील रही हूँ: "हवाओं"—अगर मैं ऐसा कह सकूँ, उनमें से प्रत्येक का एक अपना स्वाद, अपना रंग और गुण होता है, और मैं उनको इस हद तक पहचान सकती थी कि कभी-कभी मैं कहा करती, "ओह यह हवा..." (निस्सन्देह, तब मैं बच्ची थी), "इस देश की हवा या उस देश की हवा यहाँ आ गयी है।" ऐसा होता था। मैं शुद्ध हवा के प्रति अत्यधिक संवेदनशील थी, यानी, उन तत्त्वों से रहित हवा के प्रति जो जीवन की सड़न से पैदा होते हैं, विशेष रूप से ऐसे स्थानों से आयी हवा के प्रति जहाँ बहुत सारे लोग एक साथ भीड़ लगाये हों। यह चीज़ बहुत तीव्र मात्रा में मेरे अन्दर थी: उदाहरण के लिए, जब मुझे एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जाता,

तो हवा के बदलाव से मैं किसी बीमारी से अचानक छुटकारा पा लेती। जब मैं 'तेओं' से मिली, यह चीज़ सचेतन बन गयी, अध्ययन का एक विषय बन गयी, और... यह अब भी चलती चली जा रही है। शायद कुछ दिन पहले (मैं कह नहीं सकती, समय का कोई अर्थ नहीं है), लेकिन बहुत समय नहीं बीता, मैंने कहा था, "हवा में कोई अलग-सी चीज़ है।" कोई बहुत असुखद, अत्यधिक हानिकर; मैंने महसूस किया कि उस चीज़ में (स्वाभाविक रूप से मैंने किसी से कुछ नहीं कहा) बहुत ही सूक्ष्म गन्ध थी, भौतिक गन्ध नहीं, और उसमें भौतिक स्पन्दनों में से प्राणिक स्पन्दनों को अलग करने की शक्ति थी—यानी, वह अत्यधिक अनिष्टकर तत्त्व था।

तुरन्त मैंने उस पर कार्य करना शुरू कर दिया (वह कार्य कई घण्टों तक चला), सारी रात मैंने उस तत्त्व को प्रभावहीन बनाने में बितायी: मैं उस उच्चतर स्पन्दन को खोजने में लग गयी जो उसे प्रभावहीन बना सकता था, और मैं यह कार्य तब तक करती रही जब तक वातावरण स्वच्छ न हो गया। लेकिन उसकी स्मृति एकदम यथार्थ बनी रही।

१४ नवम्बर १९६४

सचेतन नींद

निस्सन्देह हम सब जानते हैं कि निश्चेतना की गहराई में 'भागवत चेतना' है; लेकिन फिर भी, नींद पतन की भाँति प्रतीत होती है, और ऐसे लोग हैं जो नींद में प्रायः पूरी तरह से निश्चेतना में गिर जाते हैं और सवेरे जागने पर, वे सोने जाने के पहले की अपेक्षा ज़्यादा थकान से भरे दीखते हैं। लेकिन किसी कारणवश, शायद 'महान् कर्म' की आवश्यकताओं के कारण अपनी जानकारी में मैं कभी अचेतन नींद में नहीं गयी।

५ अगस्त १९६१

रातें बिताने का यह सबसे सुखद तरीक़ा है। तुम एक कहानी से शुरू करो, फिर, जब जागने का समय हो तो तुम अन्तिम वाक्य पर आकर पूर्ण विराम लगा दो और वापस अपने शरीर में आ जाओ। और फिर अगली रात तुम फिर से शुरू करो, दोबारा पृष्ठ खोलो और सारे समय जब तुम शरीर के बाहर हो, अपनी कहानी दोबारा शुरू करो—फिर तुम

सभी चीज़ों को अच्छी तरह सजा लो—उन्हें बहुत व्यवस्थित होना चाहिये, वह बहुत सुन्दर होना चाहिये। और जब जागने का समय हो तो एक बार फिर से पूर्ण विराम लगा दो और उन चीज़ों से कहो—"जब तक मैं वापस न आऊँ एकदम शान्त रहना!" और तुम अपने शरीर में लौट आओ। यह चीज़ रोज़ रात को करो और तुम अद्‌भुत परी-कथाओं की एक किताब लिख सकोगे, बशर्ते जागने पर तुम सब कुछ याद रख सको।...

जब मैं छोटी थी, मैं इसे "अपने-आपको कहानियाँ सुनाना" कहती। यह अपने सिर में शब्दों में कहने की बात बिलकुल नहीं है : यह उस स्थान पर जाने की बात है जो एकदम से खिला हुआ और शुद्ध है, वहाँ... अद्‌भुत कहानियाँ गढ़ना। और अपने-आपको इस तरह कहानी सुनाने का गुर अगर तुम जानो और अगर वह सचमुच सुन्दर, सचमुच सामञ्जस्यमय, सचमुच सशक्त और भली-भाँति क्रमबद्ध हो तो यह कहानी तुम्हारे जीवन में चरितार्थ हो जायेगी—शायद ठीक-ठीक उस रूप में नहीं जिसमें तुमने उसकी रचना की, लेकिन तुमने जिसको गढ़ा उसकी वह न्यूनाधिक परिवर्तित भौतिक अभिव्यक्ति होगी।

सम्भवतः इसमें कई साल लग जायें, लेकिन तुम्हारी कहानी तुम्हारे जीवन को व्यवस्थित करने में प्रवृत्त अवश्य होगी।...

The Mother, Her Miraculous Touch: पृ. १०

सहज ध्यान

एक और भी चीज़ थी *(हँसी)* : बचपन से ही मैं, अचानक, किसी कार्य के बीच में या ठीक किसी वाक्य के बीच में या किसी भी चीज़ के बीच में अचानक ध्यान में चली जाती—और कोई नहीं जानता था कि यह क्या था! वे सब यही सोचते कि मैं सो गयी! लेकिन मैं सचेतन रहती, किसी वाक्य के बीच में उठा मेरा हाथ उठा ही रह जाता,—और पुफ़्! मैं ध्यान में चली जाती! *(माँ हँसती हैं)* बाहर से कुछ नहीं दीखता, लेकिन मेरे अन्दर बहुत तीव्र और रुचिकर अनुभूति चलती रहती। बहुत छुटपन से ही मेरे साथ यह हुआ करता।

एक बार की मुझे याद है (उस समय मैं दस या बारह साल की होऊँगी), मेरे माता-पिता के घर में क़रीब एक दर्जन लोगों का मध्याह्न-भोज था,

सभी इतवार की अपनी-अपनी उत्तम पोशाकों में सजे-धजे आये थे—वैसे परिवार के ही लोग थे, लेकिन फिर भी वह 'मध्याह्न-भोज' था और वहाँ कुछ विधि-विधान थे; संक्षेप में, सबको शिष्टाचार का पूरा ध्यान रखना होता था। मैं मेज़ के एक सिरे पर थी—मेरे पास ही रिश्ते का मेरा एक भाई बैठा था जो बाद में, कुछ समय के लिए लूव्र (Louvre) का 'डायरेक्टर' भी था (उसमें कलात्मक बुद्धिमत्ता थी, बहुत योग्य युवक था वह)। तो हम सब थे, और मुझे याद है कि मैं उसके वायुमण्डल में कुछ रोचक चीज़ को ध्यान से देख रही थी। (ध्यान रहे, हालाँकि मेरे अन्दर क्षमताएँ विद्यमान थीं, लेकिन मैं गुह्य चीज़ों के बारे में एकदम कुछ भी नहीं जानती थी... कुछ भी नहीं; अगर कोई मुझसे 'प्रभामण्डल' इत्यादि के बारे में बातें करता... तो मैं कुछ नहीं जानती थी) मैंने उसके परिवेश में जिस संवेदन का अनुभव किया मैं उसका अवलोकन कर रही थी और फिर, जैसे ही मैं काँटे से खाना अपने मुँह में डाल रही थी, कि मैं ध्यान में चली गयी, मैंने उड़ान ले ली! उसके बाद मुझे जो डाँट पड़ी! मुझसे कहा गया कि अगर मुझे तौर-तरीक़े नहीं आते तो मुझे खाने की मेज़ पर नहीं आना चाहिये! *(श्रीमाँ ठहाकों के साथ हँसती हैं)*।

५ अगस्त १९६१

शरीर के परे फैलना

... एक बार, बहुत समय तक, कई महीनों तक, मैं शय्याधीन थी और मुझे यह बहुत उबाऊ लगता था—मैं देखना चाहती थी। मैं एक कमरे में थी, कमरे के एक सिरे पर दूसरा छोटा कमरा था और उस छोटे कमरे के एक छोर पर एक तरह का पुल था; बग़ीचे के बीच में वह पुल एक तरह का ज़ीना बन गया जो बहुत ही बड़े और सुन्दर 'स्टूडिओ' की ओर लिये जा रहा था जो बग़ीचे के बीचोबीच स्थित था।

मैं वहाँ जाकर देखना चाहती थी कि 'स्टूडिओ' में क्या चल रहा है, क्योंकि मैं अपने कमरे में ऊब रही थी। तो मैं बहुत शान्त हो जाती, आँखें बन्द कर, अपनी चेतना को बाहर भेजती, धीरे-धीरे, धीरे-धीरे, धीरे-धीरे। और दिन पर दिन मैंने यही किया—मैंने एक निश्चित समय चुन लिया और मैं यह अभ्यास नियमित रूप से किया करती।

पहले तो तुम्हें अपनी कल्पना का इस्तेमाल करना चाहिये, उसके बाद वह तथ्य बन जाता है। कुछ समय बाद मेरे अन्दर सचमुच यह भौतिक संवेदन होने लगा कि मेरी दृष्टि चल रही थी, मैं उसका अनुसरण करती और तब मैं नीचे की मंज़िल की चीज़ें देख लेती जिनके बारे में मैं कुछ भी नहीं जानती थी हालाँकि मैं होती ऊपर अपने पलंग पर ही। बाद में मैं इस बात की जाँच करती। शाम को मैं पूछती—"क्या नीचे ऐसा था? क्या वैसा था?" और सारी बातें सही निकलतीं।

लेकिन इनमें से हर एक चीज़ के लिए तुम्हें महीनों तक धैर्यपूर्वक एक तरह की हठ के साथ अभ्यास में लगे रहना होगा। तुम अपनी एक-एक इन्द्रिय को एक के बाद एक लो—सुनना, देखना इत्यादि, यहाँ तक कि तुम चखने, सूँघने, छूने की सूक्ष्म वास्तविकताओं तक भी पहुँच सकते हो।

The Mother, Her Miraculous Touch: पृ. १५

कोई दुर्घटना नहीं घट सकती

... मैं नौ या दस साल की थी, मैं 'फ़ौंतैं ब्ल' के जंगल में अपने कुछ दोस्तों के साथ दौड़ रही थी (मैंने कहीं यह कहानी सुनायी है)। वह जंगल काफ़ी घना है इसलिए तुम बहुत दूर तक नहीं देख सकते। हम दौड़ रहे थे, मेरे साथ-साथ सब अपनी गति बढ़ाते जा रहे थे, मैंने देखा ही नहीं कि मैं एक ऐसे कगार पर पहुँच रही थी जहाँ नीचे क़रीब दस फ़ीट की सीधी ढलान थी (एक मंज़िल से ज़्यादा ऊँची) नीचे की सड़क पत्थरों से पटी थी—जिन्हें हाल ही में लगाया गया था। और हम भाग रहे थे। मैं आगे-आगे दौड़ रही थी और बाक़ी मेरे पीछे थे। हाँ, तो हमारी गति इतनी तेज़ थी कि में रुक नहीं पायी—वू....श! मैं हवा में तैर रही थी। मैं दस, ज़्यादा से ज़्यादा ग्यारह साल की थी, ध्यान रहे, मेरे अन्दर चमत्कार या आश्चर्य के बारे में कोई धारणा ही नहीं थी, कुछ नहीं, कुछ नहीं—मुझे बस हवा में उछाल दिया गया। और मैंने अनुभव किया कि कोई चीज़ मुझे सहारा दे रही है, मुझे ऊपर उठाये हुए है, और अक्षरशः मुझे धीरे से धरती पर, उन पत्थरों पर बिठा दिया गया। मैं खड़ी हो गयी (मुझे यह पूरी तरह से स्वाभाविक लगा, समझ रहे हो!) : कोई खरोंच नहीं, धूल का एक कण नहीं, एकदम कुछ भी नहीं, मैं बिलकुल सुरक्षित थी। मैं बहुत, बहुत

ही धीरे से नीचे गिरी। सभी दौड़ कर मुझे देखने आये। "ओह, कुछ नहीं हुआ! मैं सही-सलामत हूँ।" मैंने कहा। बात वहीं समाप्त हो गयी। लेकिन वह छाप बनी रही। वह संवेदन, वह भाव कि कोई मुझे उठा कर लिये जा रहा है *(धीरे से गिरने की मुद्रा, मानों कोई पत्ता रुक-रुक कर, धीमे-धीमे गिर रहा हो)* : मैं इतनी धीमे गिरी। और यह तो भौतिक प्रमाण था, यह कोई भ्रम नहीं था क्योंकि मैं एकदम ठीक थी—और रास्ता पथरीला था (जानते हो फ़्रांस के उन कड़े-कड़े पत्थरों को तुमलोग?) : कोई खरोंच नहीं, कुछ नहीं। धूल का एक कण नहीं।

उस समय मेरी आत्मा एकदम सजग थी, और अपनी पूरी शक्ति के साथ उसने सांसारिक तर्क के हस्तक्षेप का प्रतिरोध किया—इसलिए वह गिरना मुझे एकदम स्वाभाविक लगा। मैंने बस यही सोचा, "नहीं। मेरे साथ दुर्घटनाएँ नहीं घट सकतीं।"

लेकिन इस तरह का उछाल!... बहुत समय तक उस संवेदन की स्मृति बनी रही : कोई चीज़ जो ऐसे उछली *(पत्ते के गिरने की समान मुद्रा)* और उसने मुझे धीरे से रास्ते पर बिठा दिया।

९ मार्च १९६३

पंखों पर बिठा कर ले जाना

एक और घटना घटी थी (कुछ कम आश्चर्यजनक), हमारे पारिवारिक घर की बैठक में, जो काफ़ी विशाल थी, मैं अपने कुछ छोटे साथियों के साथ खेल रही थी। मैंने उनसे कहा, "मैं तुम्हें सिखाऊँगी कि नृत्य कैसे किया जाता है।" मैं कमरे के एक कोने में गयी ताकि कमरे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक की पूरी लम्बाई मिल जाये, और मैंने उनसे कहा, "एक छलाँग... और मैं कमरे की आधी लम्बाई नाप लूँगी।" और मैंने ऐसा कर लिया! मैं उछली (मुझे यह भी महसूस नहीं हुआ कि मैं छलाँग भर रही हूँ, मैं मानों नृत्य कर रही थी, जानते हो न जैसे बैले में पंजों की नोक पर उठ कर नृत्य किया जाता है), और मैं अपनी उँगलियों की नोकों पर उतरी, फिर एक और छलाँग लगायी और कमरे के दूसरे सिरे पर जा पहुँची—दो छलाँगों में इतनी लम्बाई नहीं नापी जा सकती, चैम्पियन्स भी यह नहीं कर सकते। मेरी वह छलाँग लम्बी कूद के अधिमानों को पार कर

गयी, क्योंकि बाद में जब हमने यहाँ आश्रम में शारीरिक प्रशिक्षण आरम्भ किया तो मैंने लम्बी कूद के अधिमान (Record) के बारे में पूछा—मैंने देखा कि मेरी कूद ज़्यादा थी! और लम्बी कूद करने वाले तो पीछे से भाग कर आते हैं, यानी वे दौड़ कर आते हैं और छलाँग मारते हैं। लेकिन मैं दौड़ कर नहीं कूदी थी, मैं तो कमरे के एक छोर पर खड़ी थी, और हॉप! और मैं ऊपर उठ गयी (मैंने अपने-आपसे मन ही मन, 'हॉप' कहा) और फ़र्रर! मैं अपने पंजों पर उतरी, फिर ऊपर उठी और दूसरी छलाँग में कमरे के दूसरे सिरे पर उतरी—निस्सन्देह मुझे उठा कर ले जाया गया था।

यह सब तेरह-चौदह की उम्र में हुआ (आठ से तेरह या चौदह की उम्र में)। इस तरह की कई चीज़ें मेरे साथ घटीं जो मुझे बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होती थीं—मुझे ऐसा नहीं लगता था मानों मैं कोई चमत्कार कर रही हूँ। बिलकुल स्वाभाविक था वह।

मुझे वह घटना भी याद है—*Bois de Boulogne* का बग़ीचा लोहे की छल्लेवाली बाड़ से घिरा हुआ था—और मैं उस पर चला करती थी! मैंने यह चुनौती अपने भाई के सामने रखी (हमारे बीच सोलह महीनों का अन्तर था, वह मुझसे बड़ा था और मुझसे कहीं ज़्यादा अच्छे व्यवहार वाला था!) मैंने उससे कहा, "क्या तुम छल्लोंवाली इस बाड़ पर चल सकते हो?" "मुझे अकेला छोड़ दो, यह कोई मज़ेदार चीज़ नहीं है।" उसने जवाब दिया। "ज़रा देखो तो सही!" मैं बोली। और मैं उन छल्लों पर बिलकुल आराम से चलने लगी! मानों मैं हमेशा से यही करती रही हूँ। वही समान चीज़ थी—तब मैं भारहीन अनुभव किया करती थी।

हमेशा बाँहों में उठा लिये जाने की भावना : मानों कोई मुझे उठाये हुए हो, मुझे अपनी गोदी में लिये जा रहा हो। और अब अगर मैं उस संवेदन की तुलना करूँ तो... वह वही समान संवेदन था—विशाल पंखों पर उड़ा ले जाना।

९ मार्च १९६३

भौतिक प्रकृति की प्रतिज्ञा

जब मैं बच्ची थी (क़रीब १२ साल की) मैं आध्यात्मिक चीज़ों के बारे में बिलकुल कुछ भी नहीं जानती थी, मेरा परिवार पूरी तरह से सांसारिक वातावरण में जीता था; लेकिन एक बार मैंने एक सपना देखा : एक सत्ता

मेरे पास आयी, एक स्त्री, और उन्होंने मुझसे कहा, "जिन चीज़ों की तुम्हें आवश्यकता होगी वे तुम्हें बहुतायत में मिलेंगी।" यह 'प्रकृति' थी, भौतिक, सांसारिक 'प्रकृति', उसी समान सत्ता को बाद में मैंने हमेशा देखा। और यह सच है, एकदम, पूरी तरह से सच! *(माँ हँसती हैं, अपने आस-पास की चीज़ों की ओर इशारा करती हैं)* बाद में जब मैं तेओं से मिली, उन्होंने मुझे बात समझायी, लेकिन जब वह सत्ता मेरे सपने में आयी थी, मैं एकदम कुछ नहीं जानती थी, यह मेरा मनगढ़न्त विचार नहीं था, यह चीज़ मेरे जाने बिना आयी: "जिन चीज़ों की तुम्हें आवश्यकता होगी वे तुम्हें बहुतायत में मिलेंगी।" *(माँ हँसती हैं)* यह सच है!

३ जून १९७०

कुछ भी असम्भव नहीं है

अपने जीवन में मुझे इतनी सारी अनुभूतियाँ हुई हैं जो इस बात की प्रमाण हैं कि सब कुछ सम्भव है। उदाहरण के लिए, जब मैं बाईस साल की थी, एक रात, मुझे एक अनुभूति हुई (उसके ब्योरे मुझे याद नहीं हैं) ... उस ज़माने में महिलाएँ ज़मीन तक छूने वाली लम्बी-लम्बी पोशाकें पहना करती थीं, और रात की अपनी अनुभूति में मैं लम्बी हो गयी थी —सवेरे मेरी पोशाक और ज़मीन के बीच एक इंच का अन्तर था! इसका यह अर्थ हुआ कि रात की अनुभूति के बाद मैं एक इंच बढ़ गयी। तो देखो, रात के अनुभव के बाद मैं लम्बी हो गयी थी (अब मुझे ब्योरे याद नहीं रहे), और सुबह... और इस तरह की अनुभूतियों की सच्चाई को भौतिक रूप में देखा जा सकता है, ताकि व्यक्ति देख सके और शरीर को विश्वास दिलाने के लिए अनुभूतियों को बार-बार दोहराने की आवश्यकता न पड़े। तब शरीर जान लेता है, वह यह जान लेता है कि कुछ भी असम्भव नहीं है, वह जान जाता है कि "असम्भव" शब्द कोई मायने नहीं रखता।...

३ फ़रवरी १९६८

गुह्यविद्या की जड़ें

मैंने गुह्यविद्या तब शुरू की जब मैं बारह वर्ष की थी। लेकिन मुझे यह कहना पड़ेगा कि मेरे अन्दर डर नहीं था, मैं किसी भी चीज़ से डरती नहीं थी। व्यक्ति अपने शरीर से बाहर निकल जाता है, लेकिन वह किसी ऐसी

चीज़ से बँधा रहता है जो प्रायः अदृश्य धागे के समान होती है; अगर धागा कट जाये तो सब समाप्त। जीवन भी समाप्त हो जाता है। व्यक्ति शरीर से बाहर जाता है और फिर उस जगत् को देख सकता है जिसमें उसने प्रवेश किया है। और सामान्यतः पहली चीज़ें जो वह देखता है, जैसा कि मैंने बताया, बड़ी भयानक होती हैं। क्योंकि तुम्हारे लिए हवा या वातावरण का अर्थ शून्य है, उसमें कुछ नहीं है—तुम आकाश में बस कुछ नीला या सफ़ेद देखते हो, वहाँ बादलों को, सूरज की किरणों को निहारते हो, यह सब तो बड़ा कमनीय होता है—लेकिन जब तुम्हारे अन्दर दूसरी दृष्टि भी हो तब तुम देखते हो कि वातावरण ऐसी असंख्य छोटी-छोटी रचनाओं से भरा हुआ है जो कामनाओं-लालसाओं या मानसिक विकार की अवशेष हैं और ये सभी उस हवा में झुण्ड की झुण्ड तैरती रहती हैं—यह चीज़ हमेशा सुखद या सुन्दर नहीं होती। कई बार ये भयंकर रूप से घिनौनी होती हैं। ये तुम पर बरस पड़ती हैं, आती हैं, तुम्हें अभिभूत कर देती हैं, तुम पर धावा बोल देती हैं; और अगर तुम डरे हुए हो तो ये रचनाएँ भयानक से भयानक रूप ले लेती हैं। निश्चय ही, अगर तुम झिझको नहीं, अगर तुम स्वस्थ उत्सुकता के साथ उनकी आँखों में आँखें डाल कर देख सको, तो तुम देखोगे कि ये ऐसी दिल दहलाने वाली बिलकुल भी नहीं हैं।

The Mother, Her Miraculous Touch: पृ. १३

भव्य सुनहला चोगा

इसी काल में मैं हर रात अपने शरीर के बाहर जाकर वह कार्य किया करती थी जिसका उल्लेख मैंने *'प्रार्थना और ध्यान'* में किया है।[१] हर रात, एक ही समय पर—जब सारा घर बहुत शान्त होता था—मैं अपने शरीर से बाहर निकल जाती और मुझे अनेकानेक अनुभूतियाँ होतीं। और फिर क्रमशः मेरा शरीर नींद में चलने वाला शरीर बन गया (यानी, सूक्ष्म शरीर की चेतना अधिकाधिक सचेतन बन गयी, साथ ही भौतिक शरीर तथा सूक्ष्म आकार के बीच की कड़ी बहुत अधिक मज़बूत हो गयी)। नींद में चलने की मेरी आदत हो गयी—लेकिन मैं सामान्य निद्राचारियों की तरह नहीं थी : मैं उठती, अपनी दराज़ खोलती, पन्ना निकालती और कविताएँ

१. २२ फ़रवरी १९१४ की श्रीमाँ की यह प्रार्थना (खण्ड १, पृ. ५१) संलग्न है।

लिखती... हाँ, कविताएँ—मैं, जिसमें कवि का लेशमात्र भी नहीं था! और मैं अन्य चीज़ें संक्षेप में लिख लेती, फिर बड़ी सचेतनता के साथ सब कुछ दराज़ में यथास्थान वापस रख देती, बड़ी सावधानी से दरवाज़ा इत्यादि बन्द करके वापस अपने बिस्तर पर आ जाती।...

५ अगस्त १९६१

२२ फ़रवरी १९१४

जब मैं लगभग तेरह वर्ष की बच्ची थी तो प्रायः एक वर्ष तक रात को जैसे ही मैं बिस्तर पर जाती तो मुझे ऐसा लगता था कि मैं अपने शरीर से बाहर निकल गयी और सीधी मकान के ऊपर उठ गयी, उसके बाद शहर के ऊपर, बहुत अधिक ऊपर। तब मैं अपने-आपको एक सुन्दर सुनहला शानदार चोगा पहने देखती जो मुझसे बहुत अधिक लम्बा होता था, और जैसे-जैसे मैं ऊपर उठती चोगा लम्बा होता जाता और गोलाकार में मुझे घेर लेता और शहर के ऊपर एक तरह की विशाल छत बना देता। उसके बाद मैं पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को, बूढ़ों, रोगियों और अभागों को सब ओर से आता देखती। वे फैले हुए चोगे के नीचे इकट्ठे हो जाते, सहायता के लिए अनुनय-विनय करते, अपनी दुर्गति, अपने दुःख-दर्द की, अपनी कठिनाइयों की गाथाएँ सुनाते। उत्तर में लचीला और सजीव चोगा व्यक्तिगत रूप में उनमें से हर एक की ओर बढ़ता और उसका स्पर्श पाते ही उन्हें आराम हो जाता या वे रोग-मुक्त होकर, अपने शरीर में से जैसे आये थे उसकी अपेक्षा ज़्यादा ख़ुश और ज़्यादा बलवान् होकर लौट जाते। मुझे इससे अधिक सुन्दर कुछ नहीं लगता था, कोई चीज़ मुझे इससे ज़्यादा ख़ुश नहीं कर सकती थी; और दिन के सभी क्रिया-कलाप रात की इस क्रिया के आगे मन्द और फीके और वास्तविक जीवन से रहित मालूम होते थे। रात का यह जीवन मेरे लिए सच्चा जीवन था। बहुधा जब मैं इस तरह उठा करती थी तो मैं अपनी बाईं ओर एक वृद्ध सज्जन को चुपचाप और स्थिर देखती थी जो मेरी ओर अनुग्रहपूर्ण स्नेह से देखा करते और अपनी उपस्थिति से मुझे प्रोत्साहित करते थे। मुझे बाद में पता चला कि ये वृद्ध सज्जन, जो गहरा जामुनी चोगा पहने रहते थे, उनका मूर्तिमान् रूप थे जिन्हें 'दुःख-पुरुष' कहा जाता है।

तुम *'वह'* हो

और जब मैं ग्यारह या बारह साल की थी, मेरी माँ ने जंगल की सीमा पर एक 'कॉटेज' किराये पर लिया था; हमें शहर के बीच से होकर नहीं जाना पड़ता था। मैं बहुधा जंगल में जाकर एकदम अकेली बैठ जाती और दिवास्वप्न में खो जाती। एक दिन (कई बार ऐसा होता था), एक दिन कुछ गिलहरियाँ आ गयीं, कुछ चिड़ियाएँ, और *(माँ अपनी आँखें फैलाती हैं)*, एक हिरण, वह मुझे देख रहा था... ओह, कितना प्यारा था वह! जब मैंने अपनी आँखें खोलीं, मैंने उन सबको वहाँ खड़े पाया, मुझे यह बड़ा मनोहर लगा—फिर वे इधर-उधर भाग गये।

जब मैं तेओं से मिली तब इन सभी चीज़ों की स्मृति वापस आ गयी —बहुत बाद में, जब मैं बीस साल से ज़्यादा की थी, यानी, दस-ग्यारह साल बाद। मैं तेओं से मिली और मुझे इन सभी चीज़ों का स्पष्टीकरण मिल गया। मैं समझ गयी। तब मुझे याद आयीं वे सभी बातें जिनकी मुझे अनुभूतियाँ हुआ करती थीं, और मैंने सोचा, "अच्छा!..." मादाम तेओं ने मुझसे कहा था, उन्होंने कहा था, "ओह, क्या तुम जानती हो कि तुम **'वह'** हो, **'उनकी'** छाप तुम्हारे ऊपर है।" उन्होंने जो कहा था मैंने उस पर ग़ौर किया और देखा कि वह वास्तव में सच था। वे सभी अनुभूतियाँ जो मुझे हुईं, इस बात का स्पष्ट संकेत थीं कि निश्चित रूप से अदृश्य जगत् में ऐसे व्यक्ति हैं जो मेरी देखभाल कर रहे हैं! *(श्रीमाँ हँसती हैं)*।

रुचिकर बात यह है कि इसमें कुछ भी मानसिक नहीं था: मुझे उन चीज़ों के अस्तित्व का ज्ञान नहीं था, मैं नहीं जानती थी कि ध्यान क्या होता है—ध्यान के बारे में रत्ती भर भी जाने बिना, मैं ध्यान किया करती थी। मैं कुछ नहीं जानती थी, एकदम से कुछ नहीं, मेरी माँ इन सब चीज़ों के पास हमें कभी फटकने तक नहीं देती थीं: इन मामलों में कभी नहीं पड़ना चाहिये, ये चीज़ें तुम्हें पागल बना देती हैं!

९ मार्च १९६३

प्रत्येक वस्तु में छिपी महान् कला का रहस्य

... बीस या इक्कीस वर्ष की उम्र तक मैं बहुत कम बोला करती थी, और भाषण देने जैसी चीज़ तो बिलकुल, एकदम से मेरे अन्दर नहीं थी। मैं बातचीत में भी हिस्सा नहीं लिया करती थी: मैं सुना करती थी, लेकिन बोलती बहुत कम थी... फिर मैं अब्दुल बहा ("बहाई" धर्मगुरु) के सम्पर्क में आयी, वे उस समय पैरिस में थे, एक तरह की आत्मीयता हो गयी थी। मैं उनके समारोहों में जाती थी क्योंकि मेरी उनमें रुचि थी। एक बार उन्होंने मुझसे कहा, "मैं बीमार हूँ, बोल नहीं पाऊँगा, मेरे बदले में तुम वक्तव्य दे आओ।" मैंने कहा, "मैं! मैं इस तरह नहीं बोलती।" उन्होंने जवाब में कहा, "तुम बस वहाँ जाओ, चुपचाप बैठ कर एकाग्र होना और जो कुछ तुम्हें बोलना है वह अपने-आप आ जायेगा। जाओ और यह परीक्षण करो, तुम देखोगी...।" हाँ, तो *(हँसते हुए)* मैंने वही किया जो उन्होंने कहा। क़रीब तीस-चालीस लोग वहाँ थे। मैं उनके बीच में जाकर बैठ गयी, बहुत शान्त बनी रही, और फिर... मैं इस तरह बैठी, मेरे अन्दर कोई विचार नहीं था, कुछ नहीं, और अचानक मैंने बोलना शुरू कर दिया। मैं आधे घण्टे तक बोलती रही (मुझे यह भी नहीं पता कि मैंने कहा क्या), और जब मेरा वक्तव्य समाप्त हुआ सभी बहुत प्रसन्न थे। मैं अब्दुल बहा से मिलने गयी, उन्होंने मुझसे कहा, "तुम उत्तम रीति से बोली।" मैंने कहा, "वह मैं नहीं थी!" और उस दिन से (मुझे उनसे वह कौशल प्राप्त हो गया, समझ रहे हो!), मैं वैसे ही रहती, बहुत शान्त, और सब कुछ अपने-आप आ जाता। इसमें विशेषकर "मैं" के भाव को ग़ायब हो जाना चाहिये—यही है प्रत्येक वस्तु में छिपी महान् कला का रहस्य, हर एक चीज़ के लिए यह लागू होती है, तुम कुछ भी करो: उदाहरण के लिए चित्रकारी... (मैंने चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, यहाँ तक कि संगीत भी किया), हर एक चीज़ के लिए—अगर तुम "मैं" के भाव को तिरोहित कर सको, तब तुम अपने-आपको उस चीज़ के गूढ़ ज्ञान के प्रति खोल देते हो (मूर्तिकला, चित्रकला इत्यादि के प्रति)। यह आवश्यक नहीं है कि उस स्तर की सत्ताएँ, बल्कि उस कार्य की आत्मा तुम्हारी सहायता के लिए आ उपस्थित होती है।

१८ फ़रवरी १९६७

भगवान् स्वयं मार्ग पर चल कर मनुष्यों को राह दिखाने के लिए मनुष्य का रूप धारण करते हैं और बाहरी मानव-प्रकृति को स्वीकार करते हैं। पर इससे उनका 'भगवान्' होना समाप्त नहीं हो जाता। यह एक अभिव्यक्ति होती है, बढ़ती हुई भागवत चेतना अपने-आपको प्रकट करती है। यह मनुष्य का भगवान् में बदल जाना नहीं है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. २२०

*

माँ, जब आप छोटी थीं, अपने बचपन में, क्या आप जानती थीं कि आप देहधारी भगवान् हैं?

मैं सचेतन थी।

The Mother, Her Miraculous Touch: पृ.४

कोई धार्मिक भाव नहीं

मेरे अन्दर कभी, कभी भी धार्मिक भाव नहीं था—तुम जानते हो, लोग इस तरह की चीज़ को क्या कहते हैं... जो उनके धर्मों में होता है, विशेषकर यूरोप में। मुझे इसके लिए बस अंग्रेज़ी शब्द सूझ रहा है: *Awe,* एक तरह का आतंक। इसने मुझे हमेशा हँसाया! लेकिन मैंने सदा यह अनुभव किया कि इसके पीछे क्या है, इसके पीछे की उपस्थितियों का अनुभव किया।

मुझे याद है, एक बार मैं एक गिरजाघर में गयी थी (मैं उसका नाम नहीं बताऊँगी) और मुझे वह बहुत ही सुन्दर स्थान लगा। वह किसी समारोह इत्यादि का दिन नहीं था इसलिए ख़ाली था। वहाँ बस एक-दो व्यक्ति प्रार्थना कर रहे थे। मैं वहाँ एक तरफ़, छोटे से प्रार्थनालय में जाकर बैठ गयी। वहाँ कोई प्रार्थना कर रहा था, विपत्ति की मारी वह महिला रो रही थी, प्रार्थना कर रही थी। वहाँ एक मूर्ति थी, मुझे अब याद नहीं किसकी थी: ईसा की, मरियम की या किसी सन्त की—मुझे पता नहीं। और, यह क्या!... अचानक, मूर्ति के स्थान पर मैंने एक विशाल मकड़ी को देखा... जानते हो, *टैरेन्ट्यूला* की तरह, लेकिन वह बहुत बड़ी थी *(हाथ की मुद्रा)*! उसने प्रार्थनालय की पूरी दीवाल घेर रखी थी और वहाँ आने वाले सभी लोगों की प्राणिक शक्ति को निगलने के लिए वह तैयार बैठी थी। सचमुच, हृदय-विदारक दृश्य था वह। मैंने अपने-आपसे कहा, 'ओह, बेचारे ये लोग...' वहाँ वह दुःख से सन्तप्त महिला, शान्ति पाने के लिए बैठी प्रार्थना कर रही थी, रो रही थी, शान्ति की आशा सँजोये बैठी थी; और एक ऐसी चेतना में जाने के बदले—जो कम-से-कम उसके प्रति दयालु तो हो सके—उसकी चिरौरियाँ इस पिशाच को तृप्त कर रही थीं!

२९ अप्रैल १९६१

भगवान् क्या हैं

... किसी ने मुझसे पूछा है, "भगवान् क्या हैं?" मैंने उत्तर दिया ("भगवान्" शब्द को लेकर):

"यह वह नाम है जिसे मनुष्य ने उस सबको दिया है जो मनुष्य का अतिक्रमण कर लेता है और उस पर शासन करता है, जो कुछ वह नहीं

जान पाता, लेकिन जिसके वश में रहता है, वह है मनुष्य के लिए भगवान्।"

यह कहने की बजाय कि "उस सबको जो मनुष्य का अतिक्रमण कर लेता है" हम कह सकते हैं, "वह जो मनुष्य का अतिक्रमण करता है," क्योंकि बौद्धिक रूप से "उस सब" विवादास्पद होता है। मेरा मतलब है कि यहाँ "कोई वस्तु" है—ऐसी वस्तु जिसकी न परिभाषा दी जा सकती है, न जिसे समझा ही जा सकता है—और मनुष्य ने हमेशा यह अनुभव किया है कि वही वस्तु उस पर शासन करती है। वह जो सभी सम्भव समझ के परे है और जो उस पर अपना अधिकार जमाये रखती है। और फिर, धर्मों ने उसको एक नाम दे दिया; मनुष्य ने उसे "भगवान्" कह कर पुकारा; फ़्रेंच उसे *Dieu (दिअ)* कहते हैं, अंग्रेज़ *God*, दूसरी भाषाओं में उसे अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया जाता है, लेकिन बहरहाल, है वह वही समान वस्तु।

जान-बूझकर मैं कोई व्याख्या नहीं दे रही। क्योंकि मेरे सारे जीवन का अनुभव यह रहा है कि यह मात्र एक शब्द है, एक ऐसा शब्द जिसके पीछे लोग-बाग बहुत-सी अवाञ्छनीय चीज़ों को बिठा देते हैं।... इसमें एक ऐसे भगवान् का विचार होता है जो यह दावा करता है कि वही "एक और अकेला" भगवान् है, जैसा कि कहा जाता है : "भगवान् एकमेव और अद्वितीय हैं।" वे यह अनुभव करते हैं और *आनातोल फ़्रांस* जिस तरह कहता है उसी की भाषा बोलते हैं (मेरे ख़याल से यह *The Revolt of Angels* में था) कि भगवान् वह है जो *एक*, *केवल* और *अकेला* रहना चाहता है। यही चीज़ थी जिसने मुझे बचपन में पूरी तरह से नास्तिक बना दिया था, अगर मैं ऐसा कह सकूँ; मैंने ऐसे किसी को भी मानने से इन्कार कर दिया, *वह* चाहे जो हो, जिसने अपने-आपको एकमेव और सर्वशक्तिशाली होने की घोषणा कर दी हो। अगर वह सचमुच एकमेव और सर्वशक्तिशाली होता, *(हँसी)*, फिर भी ऐसी उद्घोषणा करने का उसका कोई अधिकार नहीं है! मेरे मन में इसी तरह की भावना बसी हुई थी। मैं यह दिखाने के लिए इस विषय पर घण्टे भर तक भाषण दे सकती थी कि प्रत्येक धर्म इस समस्या के साथ किस तरह जूझा है।

बहरहाल, मैंने वही व्याख्या दी जो मुझे तटस्थ लगी। मैंने इस प्रश्न के भाव को समझाने की कोशिश की। लोग जिस तरह भगवान् को हौआ बना

कर पूजते हैं वह बिलकुल खोखला है, वह तो भयंकर बन जाता है।...

७ जून १९६७

संगीत के द्वारा अभीप्सा का उठना

पैरिस के यहूदी मन्दिरों में कितना सुन्दर संगीत बजता है, ओह, कितना सुन्दर संगीत! अपनी पहली अनुभूतियों में एक मुझे एक मन्दिर में हुई। वह विवाह का उत्सव था, और संगीत भव्य था—बाद में मुझे पता चला कि वह *Saint-Saens* का ऑरगन संगीत था—पैरिस का दूसरे नम्बर का संगीत —शानदार! मैं चौदह साल की थी और अपनी माँ के साथ बहुत ऊपर गैलरी में बैठी हुई थी, उस समय यह संगीत चल रहा था। वहाँ काँच की खिड़कियाँ थीं—सफ़ेद, उन पर कोई डिज़ाइन नहीं था। संगीत से आनन्दित मैं उन खिड़कियों में से एक को निहार रही थी कि अचानक खिड़की से बिजली की कौंध की भाँति प्रकाश चमका। एकदम से बिजली चमकी। वह मेरे अन्दर प्रवेश कर गयी—मेरी आँखें खुली हुई थीं—वह इस तरह प्रवेश कर गयी *(भंगिमा)* और मुझे... मुझे विशाल तथा सर्व-शक्तिमान् होने का अनुभव हुआ... यह चीज़ कई दिनों तक मेरे अन्दर बनी रही।

निस्सन्देह, मेरी माँ इतनी ठेठ संसारी, भौतिकवादी थीं कि उनके साथ अदृश्य चीज़ों की बातें करना असम्भव था—वे इन चीज़ों को हिले हुए मस्तिष्क का प्रमाण मानती थीं! जो कुछ छुआ या देखा नहीं जा सकता, वह सब उनके लिए बकवास था। लेकिन यह मुझ पर भागवत कृपा थी —मुझे कुछ भी कहने का अवसर नहीं मिला। मैंने अपना रहस्य अपने पास ही रखा। लेकिन यह मेरा पहला सम्पर्क था... बाद में मुझे पता चला कि यह पूर्वकाल की कोई सत्ता थी जो संगीत से उठती हुई अभीप्सा के द्वारा मेरे अन्दर वापस आ गयी।

लेकिन गिरजाघरों में मुझे विरले ही अनुभूति हुई है। बल्कि इसके विपरीत हुआ है : मुझे बहुत बार सान्त्वना और भागवत अनुकम्पा पाने के लिए मानव प्रयास की दुःखद अनुभूतियाँ हुई हैं... मैंने उन्हें बहुत ही बुरे हाथों में पड़ते हुए देखा है।

सबसे बुरे अनुभवों में से एक मुझे वेनिस में हुआ (वहाँ के 'कैथीड्रल' कितने सुन्दर हैं—शानदार!) मुझे याद है, मैं वहाँ पेंटिंग कर रही थी—उन

लोगों ने मुझे वहाँ एक कोने में बैठ कर पेंटिंग करने की अनुमति दे दी थी—वहीं पास में पाप-स्वीकार करने का लघु कक्ष था...। दुःख की मारी एक बेचारी स्त्री वहाँ घुटने टेके बैठी थी—उसके मुँह पर पाप का इतना भयानक भाव था! कितना दुःखद और दयनीय! वह रोये जा रही थी, रोये जा रही थी। फिर मैंने पादरी को आते देखा, ओह, वह पिशाच-सरीखा था, कठोर-हृदय पिशाच! वह अन्दर चला गया; वह लोहे के सरिये की तरह था। और यहाँ यह बेबस महिला, सुबके जा रही थी, सुबके जा रही थी; और दूसरी ओर का वह कठोर, रूखा स्वर... अपने-आपे में रहना मेरे लिए मुश्किल हो गया था।

२९ अप्रैल १९६१

देवताओं के इस महान् सांकेतिक मुहूर्त में
पृथ्वी की लालसा और आनन्द हित उसकी पुकार के उत्तर में,
हमसे अन्य लोकों की एक महानता यहाँ उतर आयी।
पार्थिव वस्तुओं के इस कोलाहल के मध्य, एक नीरवता ने
निर्विकार भाव से परम गुह्य 'शब्द' प्रकट किया,
एक सामर्थ्यशाली प्रवाह ने इस धूमिल माटी को परिपूर्ण कर दिया:
एक प्रदीप जल उठा, एक पावन छवि की रचना हो गयी।
एक अप्रत्यक्ष रश्मि ने आ इस धरती का स्पर्श किया
जिसने मानव मन और ईश्वर के मध्य की इस खाड़ी पर सेतु बाँध दिया;
जिसकी ज्योति-दीप्ति ने हमारे अचित् को परम अज्ञेय से जोड़ दिया।
अपने दिव्य स्रोत के प्रति सचेत एक आत्मसत्ता
स्वर्ग को एक मानवाकृति में ढालती
धरा के इस अध-पके साँचे में अवतरित हो गयी,
और मृत्युलोक में पतित होकर भी नहीं रोयी,
वरन् निज शान्त और विशाल नयनों से इस सृष्टि की ओर उसने निहारा।

'सावित्री', पृ. ३५३ —*श्रीअरविन्द*

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

फ़रवरी

१. सभी कार्यों में, चाहे वे बौद्धिक हों या सक्रिय, तुम्हारा आदर्श वाक्य होना चाहिये 'याद करो और अर्पित करो'। तुम जो कुछ करो भगवान् के अर्घ्य के रूप में करो। यह तुम्हारे लिए अच्छा अनुशासन होगा। यह तुम्हें बहुत-सी मूर्खतापूर्ण और बेकार चीज़ें करने से बचायेगा।

२. जब कभी तुम पाओ कि तुम कोई काम भगवान् की उपस्थिति का अनुभव किये बिना कर सकते हो और फिर भी पूरी तरह आराम में हो तो तुम्हें समझ लेना चाहिये कि तुम्हारी सत्ता का वह अंश समर्पित नहीं है।

३. भगवान् को सम्पूर्ण आत्म-दान करने का एक तरीक़ा है : अभिमान को छोड़ कर पूर्ण नम्रता में उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम करना।... अपने-आपको उनके सामने फैलाना, जिस तरह पुस्तक खोली जाती है उस तरह सिर से पाँव तक अपने शरीर को खोलना, सारे केन्द्र उनके आगे अनावृत करना ताकि उनके सारे क्रिया-कलाप पूरी सच्चाई में दिखायी दें, जो किसी भी चीज़ को छिपने नहीं देती।

४. समर्पण का एक उपाय है कि उनके बाहुओं में सुख से बैठ जाना, प्रेमार्त और पूर्ण विश्वास के साथ उनमें लीन हो जाना।

५. जब तुम कुछ काम करो, तो हमेशा वे दो उपस्थित रहते हैं; मन और प्राण। तुम जो करो उसमें से वे अपने लिए लाभ या कुछ-न-कुछ खींचने की कोशिश करते रहते हैं : व्यक्तिगत सन्तोष का लाभ, सुख का लाभ, अपने बारे में तुम्हारी जो अच्छी राय है उसका लाभ। अपने-आपको धोखा न देना बड़ा कठिन काम है।

६. तुम्हारे पास जो कुछ है, उसे देना, प्रारम्भ है।

७. तुम जो कुछ करो, उसे देना, यह राह है।

८. वह सब दे देना जो तुम हो, यह है पूर्ति।

९. भगवान् मार्गदर्शन कर सकते हैं, हाँकते नहीं।

'मनुष्य' नामक हर मानसिक सत्ता को आन्तरिक स्वाधीनता दी गयी

है कि वह भगवान् का नेतृत्व स्वीकारे या न स्वीकारे; अन्यथा सच्चा आध्यात्मिक विकास कैसे सम्भव होगा?

१०. हे प्रभु, तेरे माधुर्य ने मेरी आत्मा में प्रवेश किया है और तूने मेरी समस्त सत्ता को हर्ष से भर दिया है।

११. केन्द्र की श्रद्धा से मेरा मतलब है आत्मा में श्रद्धा या पीछे स्थित केन्द्रीय सत्ता में श्रद्धा, वह तब भी बनी रहती है जब मन शंका करता है और प्राण निराश हो जाता है तथा शरीर जवाब देना चाहता है।

१२. जैसा कि मैं तुमसे कह चुकी हूँ, सभी अप्रिय चीज़ों से पिण्ड छुड़ाने और अपने तथा भगवान् के बीच का परदा हटाने का परम रहस्य है समर्पण; सम्पूर्ण और निरन्तर समर्पण, सभी बुरे विचारों और बुरी वृत्तियों को समर्पण द्वारा विदा कर दो। यही विजयी मनोवृत्ति है और कभी असफल नहीं होती।

१३. *गीता* के शब्द याद रखो... सब धर्मों का (सारे क़ानून, नियम, बाहर से लादी गयी या अतीत की आदतों से बनी हर प्रकार की क्रिया या आचारसंहिता) त्याग कर और केवल मेरे आश्रय में आ; मैं तुझे समस्त पाप और अशुभ से मुक्ति दिलाऊँगा—चिन्ता मत कर।

१४. ज़रा भी अधीरता नहीं, विश्वास-भरा धैर्य, सबके लिए जितना अच्छा हो सकता है, सचमुच उतना अच्छा है।

१५. दूसरों में पूर्णता की प्रतीक्षा करने की अपेक्षा जब मनुष्य स्वाभाविक रूप से अपने-आपको पूर्ण करने की ओर मुड़ेगा तो वह बड़ा क़दम होगा।

१६. हम प्रकाश और सत्य के दूत बनना चाहते हैं।

१७. तुम मुझे अपने-आपको जानने-योग्य बनाओ,
मुझे अपनी सेवा के योग्य बनाओ,
मुझे 'तुम' बनने-योग्य बनाओ।

१८. सब प्राणियों में 'आत्मा' को देखने का अर्थ है सर्वत्र प्रभु को देखना।

१९. हम प्रार्थना करें कि भगवान् हमें अधिकाधिक सिखायें, हमें अधिकाधिक प्रकाश दें, हमारे अज्ञान को दूर करें और मन को प्रबुद्ध करें।

२०. व्यक्तिगत आराम, सन्तोष, मौज या सुख को खोजना छोड़ दो।
प्रगति के लिए एक जलती मशाल बनो। जो कुछ तुम्हारे साथ घटे

उसे अपनी प्रगति में सहायता के रूप में लो और तुरन्त आवश्यक प्रगति कर लो।

२१. भ्रातृभाव तभी प्रकट किया जा सकेगा जब सब यह अनुभव करें कि सब मनुष्य समान रूप से परम प्रभु से जन्मे हैं और उनके ऐक्य में 'एक' हैं।

२२. मैं जिस स्वाधीनता की बात करती हूँ वह मन या प्राण की सनकों और मौज की नहीं बल्कि आत्मा की इच्छा का अनुसरण करने की स्वाधीनता है।

२३. मैं जिस स्वाधीनता की बात करती हूँ वह है मनुष्य की उच्चतम, उदात्ततम, और सबसे अधिक दिव्य अभीप्सा को आत्म-समर्पण करने की स्वाधीनता।

२४. जिस आत्मा ने उच्चतम आनन्द को प्राप्त कर लिया है उसके लिए जीवन अशुभ या दुःखद भ्रान्ति नहीं हो सकता बल्कि सारा जीवन दिव्य प्रेमी और क्रीड़ा के साथी का लहराता प्रेम और अट्टहास्य बन जाता है।

२५. आत्मा के सबसे विचित्र अनुभवों में से एक यह भी है कि जब वह मुसीबतों की छवि और धमकी से परेशान होना छोड़ देती है तो मुसीबतें उसके इर्द-गिर्द कहीं नहीं रहतीं। तभी हम उन नकली बादलों के पीछे से भगवान् को अपने ऊपर हँसते हुए सुनते हैं।

२६. तुम्हारा जीवन भगवान् के सामने खुली किताब-सा होना चाहिये जो हमेशा जाँच के लिए तैयार रहे। चेतना के प्रकाश में जिसे बेचैनी होती हो और जो उससे छिपना चाहता हो, ऐसा कुछ भी तुम्हें न करना चाहिये।

२७. जो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं उनका निरीक्षण करो, जीवन में की गयी ग़लतियों पर मनन करके उनके पीछे के सत्य को ढूँढ़ निकालो किन्तु योजनाएँ मत बनाओ। जो कार्य करना है उसकी व्यवस्था और उसका सम्पादन उच्चतर शक्ति पर छोड़ दो।

२८. सत्ता का प्रत्येक भाग चाहे भगवान् को जानता, समझता न हो, उसने उनका स्पर्श तक न पाया हो, फिर भी उसे उच्चतम भाग की आज्ञा का पालन करना चाहिये—यही सच्चाई का सारतत्त्व है।

"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र

('मेरी नन्हीं मुस्कान' के नाम, यह उन पहले बच्चों में से थी जिन्हें आश्रम में प्रवेश मिला था। यह चौदह वर्ष की अवस्था में आयी थी। नन्हीं मुस्कान बहुत वर्षों तक माताजी के कपड़ों पर कशीदाकारी करती रहीं और फिर उनकी व्यक्तिगत सेविकाओं में से एक हो गयीं। उन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

प्यारी माँ,

मैंने देखा है कि 'क' की उपस्थिति में मैं कुछ चीज़ें नहीं कर पाती जैसे, ज़ोर-ज़ोर से बोलना या इसी तरह की कुछ असभ्य चीज़ें करना।

अपना अवलोकन करना अच्छा है ताकि तुम अपनी कमज़ोरियाँ देख सको और उन्हें सुधारने-लायक बन सको।

२६ नवम्बर १९३२

प्यारी माँ,

आप जानती हैं कि डॉक्टर ने मुझसे 'क्ष' की देख-भाल करने के लिए कहा है। आश्रम में मैंने 'त्र' को डॉक्टर से 'क्ष' के बारे में कुछ पूछते सुना और डॉक्टर भी उससे बातचीत कर रहे थे। बाद में मैंने डॉक्टर से पूछा, "आप 'त्र' के साथ 'क्ष' के बारे में बातचीत क्यों करते हैं?" उन्होंने कहा, " 'त्र' मुझसे पूछ रहा था कि 'क्ष' को क्या हो गया है, वह आजकल प्रणाम के समय नहीं दिखायी देती।" मैंने उत्तर दिया, " 'त्र' का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह की चीज़ों के बारे में लोगों से बात करना ठीक नहीं है क्योंकि वे उसके लिए कुछ नहीं कर सकते।" डॉक्टर ने कहा, "हाँ, मेरा ख़याल है कि उसने केवल उत्सुकतावश पूछा था। मैं उससे कुछ न कहूँगा।"

मेरी नन्हीं मुस्कान,

डॉक्टर को दिया गया तुम्हारा उत्तर बहुत अच्छा था और तुम्हारी बात

बिलकुल ठीक है। औरों के बारे में कभी बातचीत न करनी चाहिये—वह हमेशा बेकार होती है—और उनकी कठिनाइयों के बारे में तो बिलकुल नहीं; यह अशोभनीय है क्योंकि यह उनकी कठिनाइयों पर विजय पाने में सहायक नहीं होती। रही बात डॉक्टरों की, तो नियम तो यह है कि उन्हें अपने रोगियों के बारे में बात नहीं करनी चाहिये। डॉक्टर को यह बात मालूम होनी चाहिये। मैं आशा करती हूँ कि 'क्ष' को जो हुआ है उससे तुम डरी नहीं हो। बहुत शान्त और स्थिर रहो। सब कुछ ठीक हो जायेगा।

२८ नवम्बर १९३२

माताजी,

जब आप ऑरगन बजा रही थीं तो मुझे लग रहा था कि माताजी मेरे लिए ऑरगन बजा रही हैं और दूसरे लोग सुन रहे हैं। इससे मेरे अन्दर घमण्ड आ गया। उस समय भी मुझे लग रहा था कि यह ग़लत भाव है और मैं इसे नहीं चाहती। परन्तु मैं नहीं जानती कि इससे कैसे पिण्ड छुड़ाऊँ।

माताजी, मुझे लगता है कि अगर मैं अकेली रहूँ, जहाँ और कोई न हो तो मैं बहुत ख़ुश रहूँगी। मैं बहुत बुरी हूँ। पता नहीं ये बुरी चीज़ें मुझे कब छोड़ेंगी।

मेरे ऊपर दया कीजिये।

तुम्हें अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिये। निश्चय ही गर्व की तरंगें उठती हैं —जो बचकानी भी होती हैं—लेकिन केवल वे ही तो नहीं हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि जब तुम संगीत सुन रही थीं तब तुम साथ ही साथ संगीत का, संगीत के लिए शुद्ध और सरल आनन्द का भी अनुभव कर रही थीं। और जब तुम मेरे नज़दीक होती हो तो तुम माँ के निकट रहने वाले बालक के शुद्ध और सरल आनन्द का अनुभव भी करती हो।

प्रकृति जटिल है और सदा सत्य और मिथ्या, शुभ और अशुभ आपस में मिले रहते हैं। अपने दोषों और दुर्बलताओं को स्पष्ट रूप से देखना बहुत उपयोगी है, लेकिन केवल उन्हीं को नहीं देखना चाहिये क्योंकि यह बहुत ज़्यादा एकांगी दर्शन होगा। तुम्हें उसके बारे में भी अभिज्ञ होना चाहिये

जो प्रकृति में शुभ और सत्य है और उसकी ओर पूरा ध्यान देना चाहिये ताकि शुभ और सत्य-पक्ष बढ़ता रहे और अन्ततः बाक़ी सबको आत्मसात् कर ले और प्रकृति को रूपान्तरित कर दे।

५ दिसम्बर १९३२

माताजी,

आज सवेरे जब मैंने आपको प्रणाम के समय देखा तो ऐसा लगा कि आप बहुत गम्भीर हैं।

मुझे आपसे जो कुछ कहना ज़रूरी लगता है वह मैं आपको लिख देती हूँ, क्योंकि मैंने आपको वचन दिया है कि मैं अपने विचार और भाव आपको लिखूँगी और मैं आपको धोखा नहीं देना चाहती। मेरे पास आपसे कहने के लिए कोई अच्छी बात नहीं है। मेरे पास बहुत-सी बुरी, भद्दी, मूर्खतापूर्ण और शरारत-भरी चीज़ें हैं कहने के लिए। अगर कोई अच्छी बात है तो यही कि मैं आपके लिए काम करती हूँ (आपकी साड़ी): बस यही एक चीज़ है जिसे मैं अच्छा कह सकती हूँ।

आज दिन भर मैं दुःखी रही। मैं मुस्कुरा न सकी। आपको ऐसी बहुत-सी चीज़ें पढ़ने को मिलेंगी, लेकिन अगर आप गम्भीर हो जायें, जैसी कि आज सवेरे थीं, तो मैं इस मामले को समाप्त करना पसन्द करूँगी।

आज मैंने सात घण्टे काम किया।

नहीं, मेरी बच्ची, मैं 'गम्भीर' नहीं थी। मैं सदा की तरह मुस्कुरायी थी। यह तो तुम स्वयं छोटा-सा दुःखी मुखड़ा बनाये हुए थीं और शायद तुमने अपने दुःख की छाया मेरी आँखों में देखी। मैं जीवन को बहुत अच्छी तरह जानती हूँ। तुम्हारी दोष-स्वीकृतियाँ मुझे "गम्भीर" नहीं बना सकतीं। और तुम अपनी दोष-स्वीकृतियों को चाहे जो समझो परन्तु वे सचमुच ऐसी भयंकर नहीं होतीं। और जैसे ही तुम मुझे वे चीज़ें बतला दो जो तुम्हें तकलीफ़ देती हैं, तुम देखोगी कि वे सब ग़ायब हो गयी हैं और तुम अपने-आपको मुक्त और प्रसन्न अनुभव करोगी।

अपनी मुस्कान बनाये रखो, नन्हीं बच्ची; यही तुम्हें तुम्हारा बल देती है।

७ दिसम्बर १९३२

माताजी,

पता नहीं क्यों, दो-तीन दिन से मैं कुछ उदास हूँ।

माताजी, कभी-कभी जब मैं अवसाद में होती हूँ, जब मुझे लगता है कि सम्भवतः मैं योग न कर सकूँगी तो मेरा मन कल्पना करता है; "अगर माताजी मुझसे कहें कि मैं योग नहीं कर सकती और मुझे यहाँ से चले जाने के लिए कहें तो मेरा कोई भी तो नहीं है जिसके यहाँ मैं जा सकूँ, ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ मैं रह सकूँ। मैं यहाँ नौकर की तरह भी रह लूँगी, लेकिन कहीं और रहना मेरे लिए असम्भव है।"

ऐसी बातें सोच कर मैं और भी उदास हो जाती हूँ।

मेरी माँ, मुझे लगता है कि आज मेरा मन इतना स्थिर नहीं है कि मैं आपको कुछ लिख सकूँ। आज मैंने ९ घण्टों तक साड़ी का काम किया।

मेरी प्यारी नन्हीं बच्ची,

तुम्हें अवसाद को स्वीकार न करना चाहिये, कभी नहीं, और इस प्रकार के सुझावों को तो बिलकुल नहीं। कैसी मूढ़ताभरी मिथ्या बात है कि मैं तुमसे जाने के लिए कह सकती हूँ! तुम ऐसी बात का सपना भी कैसे ले सकती हो? तुम यहाँ अपने घर में हो, क्या तुम मेरी नन्हीं बेटी नहीं हो? तुम्हारा स्थान हमेशा मेरे पास रहेगा, मेरे प्रेम और मेरी सुरक्षा में।

९ दिसम्बर १९३२

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ७१-७५

हर रात मैं अपनी सारी चिन्ताएँ प्रभु को सौंप देता हूँ,
क्योंकि वे तो वैसे भी सारी रात जागने ही वाले हैं।

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

श्रीअरविन्द के योग की साधना

आज की सभा का विषय है—श्रीअरविन्द के योग की साधना।

... मैं इस पर तीन भागों में बोलने की कोशिश करूँगा—धारणा, साधना, यानी कार्यान्वयन और परिणाम। मैं अभी कार्यान्वयन पर ज़्यादा ज़ोर दूँगा। यदि तुम श्रीअरविन्द के योग की साधना करो तो क्या परिणाम होगा?

जहाँ तक मैं जानता हूँ, श्रीअरविन्द की दृष्टि, अभी तक मानवजाति के इतिहास में जो स्वप्न लिये गये हैं उनमें सबसे ज़्यादा पूर्ण और सर्वांगीण है। वह अपनी धारणा में सबसे अधिक पूर्ण, अपने कार्यान्वयन में सबसे अधिक सर्वांगीण और परिणाम में सबसे बढ़-चढ़ कर है। श्रीअरविन्द एक ही विस्तार में भूत, भविष्य और वर्तमान, मनुष्य के आन्तरिक और बाह्य जीवन, व्यक्तिगत और सामुदायिक और सारी मानवजाति के जीवन को ले लेते हैं और सभी समस्याओं का समाधान उपस्थित करते हैं। श्रीअरविन्द की कृतियाँ पढ़ कर तुमलोग आश्चर्यचकित रह जाओगे कि उन्होंने हज़ारों प्रश्न रखे हैं; इनमें से कुछ लोगों ने दस-बीस बातें सोची होंगी, परन्तु श्रीअरविन्द ने हज़ारों प्रश्न रखे हैं। वे मनुष्य की मौलिक अभीप्सा—भगवान् के लिए अभीप्सा, अमरता के लिए अभीप्सा, प्रकाश और स्वाधीनता के लिए अभीप्सा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् के लिए अभीप्सा का वर्णन करते हैं और उन सबको चरितार्थ करने के लिए मार्ग बतलाते हैं। आज मनुष्य के सामने उपस्थित समस्याओं की यह सर्वकुञ्जी है—वे चाहे मनोवैज्ञानिक हों, अहंकार, लोभ, घृणा और ईर्ष्या की हों या आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक समस्याएँ हों।

लेकिन अगर उन्होंने एक हज़ार प्रश्न रखे हैं तो वह उत्तर तो एक ही देते हैं। जब हम उनके चरम उत्तर पर आते हैं तो स्वभावतः हम अनुभव करते हैं कि वही सब समस्याओं का उत्तर है, वही हमारी सभी समस्याओं का समाधान है, सभी अभीप्साओं की परिपूर्ति है। हम अनुभव करते हैं कि कोई समस्या है ही नहीं क्योंकि कोई दो समाधान नहीं हैं। अगर दो सम्भावनाएँ हों तो तुम अपने-आपसे पूछ सकते हो कि मैं इसे अपनाऊँ

या उसे, पर जब एक ही समाधान है तो मार्ग सरल हो जाता है और तुम आसानी से आगे बढ़ सकते हो। हम इसी को समझने की कोशिश करेंगे।

पहले श्रीअरविन्द कहते हैं कि जगत् विकास कर रहा है—जड़ पदार्थ से वनस्पति, वनस्पति से पशु और पशु से मनुष्य। लेकिन मनुष्य अन्तिम चरण नहीं है, वह क्रम-विकास में बीच का क़दम है, क्रम-विकास इससे आगे—मानव से अतिमानव तक—जायेगा। अतिमानसिक परिवर्तन मानव शरीर का भी परिवर्तन ले आयेगा। मैंने उपनिषद् का प्रसिद्ध मन्त्र पढ़ा था *—असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय*। इसमें विचार यह है कि मर्त्य चेतना से जीव अमृत-चेतना में जाये। सबसे अच्छी चीज़ जो व्यक्ति अपने-आपसे कह सकता है वह यह कि अब मैंने अपने अन्दर अमर दिव्य चेतना को अनुभव कर लिया है और मैं उसमें रह रहा हूँ, अतः, शारीरिक मृत्यु का कोई महत्त्व नहीं। लेकिन कभी किसी ने यह नहीं सोचा कि शारीरिक अमरता भी सम्भव हो सकती है।

श्रीअरविन्द के योग में शारीरिक अमरता की बात आती है। हमने इसके बारे में कथाओं में पढ़ा है परन्तु यह कभी सोचा भी नहीं कि वास्तव में मनुष्य की शारीरिक अमरता सम्भव हो सकती है। शारीरिक अमरता के बारे में श्रीअरविन्द का विचार इस शरीर से नहीं है जो हाड़-चाम और मांस का बना हुआ है परन्तु उस शरीर से है जो ज्योति से बना है, ज्योति का ऐसा शरीर जो रोग से मुक्त होगा और वृद्धावस्था से मुक्त होगा, जिसके अन्दर सभी उच्चतर क्षमताएँ विकसित होंगी, जिसमें सञ्चार के साधारण उपायों की ज़रूरत न होगी, भोजन की ज़रूरत न होगी। और यह क्रम-विकास का आख़िरी चरण नहीं बल्कि अगला चरण है। श्रीअरविन्द की दृष्टि सीमित नहीं है। यदि मानवजाति पृथ्वी पर विकसित होकर, यहाँ पर भगवान् को पूरी तरह अभिव्यक्त कर सके तो वह उच्चतम भौतिक परिपूर्णता तक भी पहुँच सकेगी। श्रीअरविन्द के योग द्वारा ही, मनुष्य जिस उच्चतम परिपूर्णता का स्वप्न देख सकता है, वह चरितार्थ हो सकती है।

श्रीअरविन्द के योग का व्यक्तिगत और सामुदायिक रूप से लक्ष्य है —भौतिक रूपान्तर। तुमलोगों में से जो यह सोचते हैं कि तुम वृद्ध हो चुके हो और तुम उस उम्र को पार कर चुके हो जहाँ विकास कर सको, कि तुम समय से पिछड़ गये हो और अब तुम अगले जन्म में ही विकास

करने की कोशिश कर सकते हो, मैं एक बात कहना चाहूँगा जो माताजी ने मुझसे कही थी। उन्होंने कहा था कि अन्तिम श्वास तक भगवान् को पाने का अवसर है, आदमी को कभी शरीर छोड़ने और प्रयास बन्द कर देने के बारे में न सोचना चाहिये। इसे एक क्षण के लिए भी कम करने की बात नहीं सोचनी चाहिये।

दूसरी बात जो उन्होंने कही वह यह थी कि जीवन को लम्बा किया जा सकता है। फिर उन्होंने कहा, "मेरे बालक, तुम पुराण-कथाओं से सम्मोहित हो। (मुझे हिन्दू पुराण-कथाओं में बहुत रस था) तुम सोचते हो कि चीज़ें और तरह से नहीं हो सकतीं? लेकिन मैं कहती हूँ कि चीज़ें और तरह से भी हो सकती हैं।" तो यह रहा आशा का एक बड़ा सन्देश कि हर चीज़ और तरह से भी हो सकती है। और तरह से कैसे? यह हम तब देखेंगे जब हम वास्तविक योगाभ्यास की बात पर आयेंगे। परन्तु पहली चीज़ जो मैं तुमको बतलाना चाहूँगा वह यह है कि श्रीअरविन्द का योग केवल नैतिक या धर्मनिष्ठ जीवन की बात नहीं कहता, केवल इतना ही नहीं जिसमें तुम भगवान् का ध्यान करो, भागवत जीवन में निवास करो और एक दिन चल बसो। श्रीअरविन्द का लक्ष्य है—मानव-जीवन को पृथ्वी पर दिव्य जीवन में बदलना, उसका एक रूप है—मानव से अतिमानव में बदलना।

श्रीअरविन्द के योग का एक और रूप है आध्यात्मिक काल का आगमन, जो आगे चल कर देव-समाज की ओर ले जायेगा। यह बड़ी मज़ेदार चीज़ है, व्यक्तिगत रूप से हम विकसित हो रहे हैं, सामाजिक रूप से भी हम विकास कर रहे हैं। श्रीअरविन्द वर्तमान समाज को आर्थिक समाज कहते हैं, बल्कि वे उसे 'आर्थिक बर्बरता' कहते हैं। हर एक दूसरे के बल पर पैसा कमाना चाहता है और हर चीज़ पर पैसे का शासन है। आपको घर की ज़रूरत है, आपको चिकित्सा की ज़रूरत है, अपने बालकों के लिए शिक्षा की ज़रूरत है, आपको बुढ़ापे की व्यवस्था की ज़रूरत है तो इस तरह आपका सारा जीवन, आपकी सारी ऊर्जा पैसा कमाने की परम आवश्यकता पर ख़र्च होती है। हमारे लिए मानव जीवन का यही मूल्य है। श्रीअरविन्द का कहना है कि यदि विकास जीवन का लक्ष्य है, यदि मानव जीवन का लक्ष्य है पृथ्वी पर एक ऐसे नये शरीर के द्वारा भगवान् को अभिव्यक्त करना जो अभिव्यक्ति का ज़्यादा अच्छा यन्त्र हो तो एक ऐसी

सामाजिक व्यवस्था विकसित होनी चाहिये जो उसके विकास में सहायक हो। तब किसी को जीविका के लिए कमाई न करनी होगी, हर एक को खुली छूट होगी कि वह अपना मनपसन्द काम चुन सके और उसे भगवान् को अभिव्यक्त करने का क्षेत्र बना सके। यह कैसे हो सकता है? समाज उसके भरण-पोषण, मनोरञ्जन, खेल-कूद, चित्रकारी, संगीत की व्यवस्था करेगा—उसके लिए हर चीज़ निःशुल्क होगी और बदले में वह समाज को अपनी सेवा निःशुल्क देगा। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति वह स्थान प्राप्त करेगा जिसके लिए वह योग्यतम होगा और अपनी सच्ची आवश्यकता के अनुसार काम करेगा। जैसा कि मैंने कहा, सच्ची आवश्यकता में संगीत, चित्रकला भी आवश्यकताएँ हो सकती हैं। और अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार व्यक्ति देगा। यह तभी सम्भव हो सकता है जब वह उस काम को चुनने के लिए पूरी तरह से आज़ाद हो जिसके लिए उसमें अधिक-से-अधिक क्षमता हो। यह नयी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था समाजवाद, साम्यवाद, गणतन्त्र आदि उन सभी व्यवस्थाओं से ज़्यादा अच्छी होगी जिन्हें आज तक मानव के सामने प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ मुझे एक घटना याद आती है। जब ओरोवील की योजना शुरू हुई थी तो हमारे मुख्य स्थपति ने उसमें भाग लेने के लिए एक कम्यूनिस्ट स्थपति को निमन्त्रण दिया। वह रूसी मूल का एक प्रसिद्ध स्थपति था, लेकिन वह इसमें भाग नहीं लेना चाहता था क्योंकि जैसा उसने कहा, उसे आध्यात्मिकता और भगवान् पर विश्वास न था। हमारे मुख्य स्थपति ने उसे श्रीअरविन्द की कुछ पुस्तकें भेंट कीं। उन्हें पढ़ने के बाद उसने कहा, 'मुझे पता न था कि भारतीय आध्यात्मिकता यह है। यह तो वह उच्चतम आदर्श है जो कम्यूनिज़म का लक्ष्य है।' और उसने सरकारी तौर पर अपने दल से ओरोवील के लिए काम करने की स्वीकृति ले ली। केवल इतना ही नहीं, तुमलोगों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि रूस की सरकार ने श्रीअरविन्द के 'योग-समन्वय' को रूसी भाषा में अनूदित करने और विधिवत् छापने तथा वितरित करने की आश्रम से स्वीकृति भी ले ली है। एक कम्यूनिस्ट देश के लिए यह बहुत बड़ी बात है, बहुत बड़ा क़दम है।

(क्रमशः)

—नवजात जी

'योग के तत्त्व'

निष्कपटता

क्या यह सच है कि केवल पूर्ण सच्चाई की शक्ति से ही व्यक्ति पूर्ण रूपान्तर को पा सकता और अतिमानसिक सत्य तक पहुँच सकता है?

हाँ।

श्रीमाँ ने कहा है कि "अगर तुम सच्चे-निष्कपट नहीं हो तो योग शुरू मत करो।" तो क्या इसका यह मतलब है कि योग में प्रवेश करने के बाद अगर व्यक्ति को लगे कि वह पूरी तरह से सच्चा नहीं है तो उसे योग करना छोड़ देना चाहिये?

नहीं। केवल तभी जब वह मौलिक रूप से सच्चा और निष्कपट न हो, उसे योग करना छोड़ देना चाहिये।

साधक को यह कैसे पता चल सकता है कि वह सच्चा और निष्कपट नहीं है?

जब वह देखे कि वह पूरी तरह से अहंकार से भरा हुआ है और साधना सिर्फ़ अहंकार की पूर्ति के लिए ही कर रहा है और उसके अन्दर भगवान् की ओर कोई सच्चा झुकाव नहीं है।

क्या साधक के अन्दर मूलभूत कपट से छुटकारा पाने की कोई सम्भावना नहीं होती?

अगर साधक अपने कपट के बारे में अभिज्ञ हो जाये और निष्ठा से उससे छुटकारा पाना चाहे तो वह ऐसा कर सकता है।

साधक को यह कैसे पता चलता है कि उसमें निष्ठा और सच्चाई बढ़ रही हैं?

यह देख कर कि क्या वह सिर्फ़ भागवत शक्तियों को ही उत्तर देता है

या अभी तक अहं की शक्तियों और कामना की शक्तियों को उत्तर देता, स्वीकारता और पनाह देता है।

क्या यह सच है कि अगर साधक में पूर्ण सच्चाई हो तो वह तेज़ी से प्रगति कर सकता है, भले ही उसकी भक्ति में कमी हो?

अगर वह सच्चा है तो निश्चित रूप से उसमें भक्ति है। योग में सच्चा होने का मतलब ही है सिर्फ़ भगवान् को प्रत्युत्तर देना और अगर उसमें भक्ति न हो तो वह यह नहीं कर सकेगा।

अतिमानसिक सत्य के चरितार्थ होने तक इस पथ पर लगे रहने की सही मनोवृत्ति क्या होनी चाहिये?

उसमें माँ के प्रति सम्यक् चैत्य अवस्था, निष्कपटता तथा भक्ति होती है।

भगवान् के सामने या दूसरों के सामने अपनी कमज़ोरियाँ स्वीकार करना क्या सच्चाई की निशानी है?

दूसरों के सामने क्यों? तुम्हें भगवान् के सामने अपनी कमज़ोरियाँ स्वीकारनी चाहियें।

लेकिन अगर कोई किसी व्यक्ति के साथ कुछ ग़लत करता है तो क्या यह ज़रूरी नहीं है कि वह उसके सामने स्वीकार कर ले? ऐसे में क्या सिर्फ़ भगवान् के सामने स्वीकार करना पर्याप्त है?

अगर उसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति के साथ हो तो वह उसके सामने स्वीकार कर सकता है।

साधना करते समय साधक मिथ्यात्व की शक्तियों से पथभ्रष्ट होने से कैसे बच सकते हैं?

उन्हें हमेशा सच्चा और निष्कपट रहना चाहिये—यह इसी पर निर्भर करता है।

साधकों के लिए अनुशासन में रहना कब तक ज़रूरी होता है?

कम-से-कम जब तक उन्हें उपलब्धि न प्राप्त हो जाये।

क्या इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक उन्हें पूर्ण उपलब्धि प्राप्त न हो जाये तब तक उन्हें अनुशासन में रहना चाहिये?

बहरहाल, मूलभूत उपलब्धि तो प्राप्त होनी ही चाहिये ताकि वे अपनी मानसिक सनक या प्राणिक अहंकार के अनुसार कार्य करने की और इच्छा न करें।

"मूलभूत उपलब्धि" का क्या अर्थ है? क्या इसमें उन साधकों की अवस्था का उल्लेख है जो पूरी तरह से भगवान् को आत्म-समर्पण कर चुके हैं तथा पूरी तरह से रूपान्तरित हो गये हैं?

यह सम्पूर्ण उपलब्धि है। अगर वे पूरी तरह से रूपान्तरित हो गये हैं तो कोई साधना करनी नहीं रह जाती।

"मानसिक स्वैर कल्पना" का क्या अर्थ है?

जब मन स्वयं अपने आनन्द और अपनी आसक्ति के कारण अपने विचारों का—सत्य की परवाह किये बिना—अनुसरण करता रहता है।

क्या ऐसे साधकों के लिए—जो अपनी मानसिक स्वैर कल्पना और प्राणिक अहंकार से पिण्ड नहीं छुड़ा पाये हैं, आंशिक उपलब्धि पाना भी सम्भव है क्या?

नहीं, उन्हें भगवान् के प्रति आत्म-समर्पित होना ही चाहिये।

मौलिक उपलब्धि तक पहुँचने के लिए क्या मानसिक स्वैर कल्पना और प्राणिक अहंकार से पिण्ड छुड़ा लेना पर्याप्त है?

नहीं। व्यक्ति को आत्म-समर्पण करना ही होगा। उसके चैत्य को सम्मुख होना ही होगा और मन तथा प्राण पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही होगा।

—श्रीअरविन्द

टीत्सी छोटी थी...

(बाल-कथा)

हाथी बड़े होते हैं, लेकिन टीत्सी छोटी थी। वह अपने झुण्ड में सबसे छोटी थी! टीत्सी ने लम्बे होने के लिए क्या-क्या नहीं किया... सभी सम्भव उपाय आज़मा लिये। वह अपने शरीर को खींच-खींच कर अँगड़ाई लेती, ख़ूब खाती। लेकिन ऐसा लगता था कि कुछ भी मदद नहीं कर रहा था।

वह दिन टीत्सी के लिए मनहूस बन गया। सवेरे-सवेरे दुःख उस पर टूट पड़ा। वह सरोवर में तैरने जाना चाहती थी, लेकिन टीत्सी की माँ ने यह कह कर सीधा मना कर दिया कि वह बहुत छोटी है, अकेले नहीं जा सकती।

"छोटी, छोटी, छोटी..." टीत्सी बड़बड़ायी।

बाद में टीत्सी गज-समूह के साथ भोजन की तलाश में जंगल में निकल पड़ी। वे सब एक जगह रुक कर पेड़ों के पत्ते खाने लगे। टीत्सी ने भी बड़ी कोशिश की, लेकिन वह उन टहनियों तक पहुँच ही नहीं पायी, यहाँ तक कि निचली टहनियाँ भी उसके लिए बहुत ऊँची थीं!

"मैं **कुछ भी** करने के लिए बहुत छोटी हूँ!" हताशा की मारी टीत्सी रो पड़ी।

शाम को, अपने दल के साथ वह पहाड़ी के पीछे डूबते सूरज को देखने की कोशिश में लगी थी, लेकिन कहाँ देख पा रही थी वह कुछ भी??? अपने पंजों पर उचक-उचक कर भी वह कामयाब नहीं हुई।

"माफ़ कीजियेगा, माफ़ कीजियेगा," बड़ी नम्रतापूर्वक टीत्सी ने सबसे कहा, "मैं आपलोगों के घुटनों के ऊपर भी कुछ देखना चाहती हूँ, ज़रा बढ़िये, रास्ता दीजिये।" लेकिन कोई उस नन्हीं टीत्सी को सुन ही नहीं पाया। वे सूर्यास्त के पल-पल बदलते सुन्दर रंगों में डूबे हुए थे।

"देखो, देखो टीत्सी!" उसकी मासी ने कहा। "कितना शानदार सूर्यास्त है न? सब कुछ चमकते सोने में बदल गया है।"

"क्या सचमुच?" दुःखी हो, टीत्सी बोली। सुनहला उसका प्रिय रंग था।

टीत्सी वहीं बैठ गयी और अपने दल के आगे बढ़ने का इन्तज़ार करने लगी ताकि सबके हट जाने पर वह भी उस सौन्दर्य के घूँट पी सके। लेकिन

क्या वह सूर्यास्त उसके लिए ठहरता? इसलिए वह कुछ देर वहीं बैठ कर कल्पना करने लगी कि कितना भव्य होगा वह सूर्यास्त!! फिर ख़ुद को सान्त्वना देने के लिए बोल उठी, "सचमुच इतना कल्पनातीत होगा कि उसे शब्दों में बाँधा ही नहीं जा सकता।"

अगली सुबह टीत्सी बेहद उदास थी। वह हरी घास के एक मैदान में जाकर बैठ गयी जो उदास होने के लिए उसे अच्छी जगह लगी। उसके ऊपर बहुत सारा नीला आकाश था जिसके नीचे बैठे-बैठे यह सोचा जा सकता था कि वह कितनी छोटी है! टीत्सी धम्म से वहाँ बैठ गयी। "लानत है मुझ पर!" वह बुदबुदायी।

अचानक टीत्सी को एक धीमी आवाज़ सुनायी दी, "लानत क्या होता है?" टीत्सी ने नीचे घास पर देखा, वहाँ एक छोटी-सी चुहिया मुँह उठाये उसे निहार रही थी।

"लानत का मतलब है उदासी," टीत्सी ने कहा, "और आज मैं बहुत उदास हूँ।" टीत्सी ने अपने नये मित्र को अपनी दुःखभरी रामकहानी सुना दी, "जानते हो कितनी छोटी हूँ मैं दोस्त! न पेड़ की पत्तियाँ खा सकती हूँ और सूर्यास्त देखने जाती हूँ तो अपने झुण्ड के बस घुटने ही घुटने दिखते हैं। मैं सचमुच नाटी हूँ, बौनी हूँ," टीत्सी के आँसू टपक गये।

"नहीं, नहीं, तुम छोटी तो बिलकुल भी नहीं हो, तुम तो सचमुच बड़ी हो, ब-हु-हु-त बड़ी," नन्हीं चुहिया आँखें फाड़ कर बोली।

"क्या सचमुच तुम ऐसा सोचती हो?" टीत्सी ने चहकते हुए पूछा। उसकी आँखें चमकने लगीं।

"हाँ, हाँ, सचमुच" चुहिया बोली, "आज तक जितने भी प्राणी मैंने देखे हैं तुम उनमें सबसे बड़ी हो!"

टीत्सी की ख़ुशी उसके अन्दर समा नहीं पा रही थी। वाह! किसी की नज़रों में वह बड़ी थी! 'यह तो मेरा सपना साकार हो गया'—टीत्सी का दिल बल्लियों उछलने लगा। वैसे भी अन्दर से तो वह हमेशा अपने-आपको बड़ा ही अनुभव करती थी, और आज बाहर से भी उसे बड़ा घोषित कर दिया गया! अब टीत्सी ने नीचे अपने नये मित्र की ओर देखते हुए कहा, "मुझे बहुत खेद है कि तुम इतनी छोटी हो। और मैं बख़ूबी जानती हूँ कि तुम अन्दर से हमेशा कैसा महसूस करती होगी।"

"इसमें खेद की कोई बात ही नहीं है दोस्त, मुझे तो छोटा होना अच्छा लगता है! मैं कभी भी, कहीं भी, आरामदायक कोनों में दुबक सकती हूँ और मेरे ऐसे कितने ही गोपनीय स्थल हैं जिनके बारे में कोई भी नहीं जानता!"

"वाह, वाह, बहुत ख़ूब! तो छोटा होना भी अच्छा **हो सकता है**।" टीत्सी झूम उठी। उसके बाद टीत्सी और चुहिया 'छोटे होने' और 'बड़े होने' के बारे में तब तक बातें करती रहीं जब तक उनकी माँओं ने उन्हें बुला न लिया।

"तुमसे मिल कर बड़ी ख़ुशी हुई" टीत्सी ने चुहिया को अपनी सूँड़ पर उठा कर, धन्यवाद देते हुए कहा। "और अगर कभी तुम ऊँची रखी किसी चीज़ तक न पहुँच पाओ तो मुझे बता देना, मैं फ़ौरन तुम्हारी सहायता कर दूँगी।"

"बहुत-बहुत शुक्रिया!" चुहिया ने चूँ-चूँ करते हुए उसे ख़ुदाहाफ़िज कहा। जाते-जाते वह हँस कर बोली, "अगली बार जब मिलेंगे तो लुका-छिपी खेलेंगे, तुम मुझे कभी नहीं ढूँढ़ पाओगी!"

टीत्सी ख़ुशी से उछलती-कूदती अपने दल से जा मिली।

"मेरी बच्ची, बाहर से आकर तुम बहुत ख़ुश दीख रही हो, अब बेहतर लग रहा है न तुम्हें?" माँ ने टीत्सी से पूछा।

"ओह हाँ, माँ हाँ, बहुत बढ़िया।" टीत्सी अपनी माँ से चिपक कर चहक उठी। "माँ, मैं जानती हूँ कि मैं छोटी-सी हथिनी हूँ, लेकिन कई दूसरे जानवरों के सामने जानती हो मैं सचमुच ब..हु..त... बड़ी हूँ!"

"बिलकुल सही, और एक दिन तुम भी हम सब बड़ों के जितनी बड़ी हो जाओगी मेरी प्यारी बच्ची," माँ ने सूँड़ से उसकी पीठ सहलाते हुए कहा।

टीत्सी यह सोच कर भाव-विभोर हो उठी कि वह कितने सूर्यास्त अपने झुण्ड के साथ खड़ी होकर देख सकेगी। "वाह! माँ, मैं पेड़ों की ऊँची-से-ऊँची डालों की पत्तियों तक पहुँच जाऊँगी!" ख़ुशी से निहाल हो उठी नन्हीं टीत्सी।

टीत्सी बैठ गयी, पल-भर सोचने के बाद बोली, "माँ, आज मैं समझ गयी कि छोटा होना भी अच्छा है।"

टीत्सी की माँ ने उसे अपने अंक में भरते हुए बड़े प्यार से कहा,

"तुम एकदम ठीक कह रही हो बेटी, बड़ा या छोटा—उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। तुम जो हो उस पर तुम्हें गर्व होना चाहिये और हमेशा ख़ुशी-ख़ुशी जीवन बिताना चाहिये।"

छोटी टीत्सी बड़ी बनने के सपनों को संग लिये माँ की गोद में दुबक कर सो गयी!

रूपान्तर—वन्दना —रेबेका ग्राज़ुलिस

बच्ची की प्रार्थना

(विद्यालय का पहला दिन)

प्यारे यीशु! हाथ मेरा थामे रखना,
मैं निकली हूँ अपनी विदेश-यात्रा पर,
जहाँ न होगा राजा, न पुजारी,
बल्कि होगा कोई, जिसका नाम होगा 'अध्यापक'!

मेरी माँ का कहना है कि वहाँ बड़े मज़े आयेंगे;
वहाँ मैं कूदूँगी-गाऊँगी, नाचूँगी-खेलूँगी।
लेकिन मैं हूँ बड़ी भयभीत, 'क्योंकि,
नहीं जानती मैं कि करूँ क्या, जाऊँ कहाँ?'

इसीलिए हे देवता जीसस! भींचे रखना मुझे अपने से,
और न होने देना अपनी प्रिय नज़रों से कभी ओझल,
क्योंकि आज तुम्हें अपने क़रीब पाकर,
मैं जानती हूँ कि मैं हूँ सुरक्षित।

—मारगरेट कैनेडी

भगवान् के प्रति निष्ठावान् रहो
और तुम सतत शान्ति का रहस्य पा लोगे।

—श्रीमाँ

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st February 2019
Rs. 15.00 (Monthly)

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

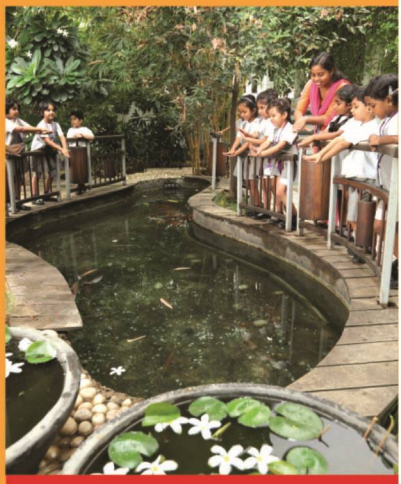

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363